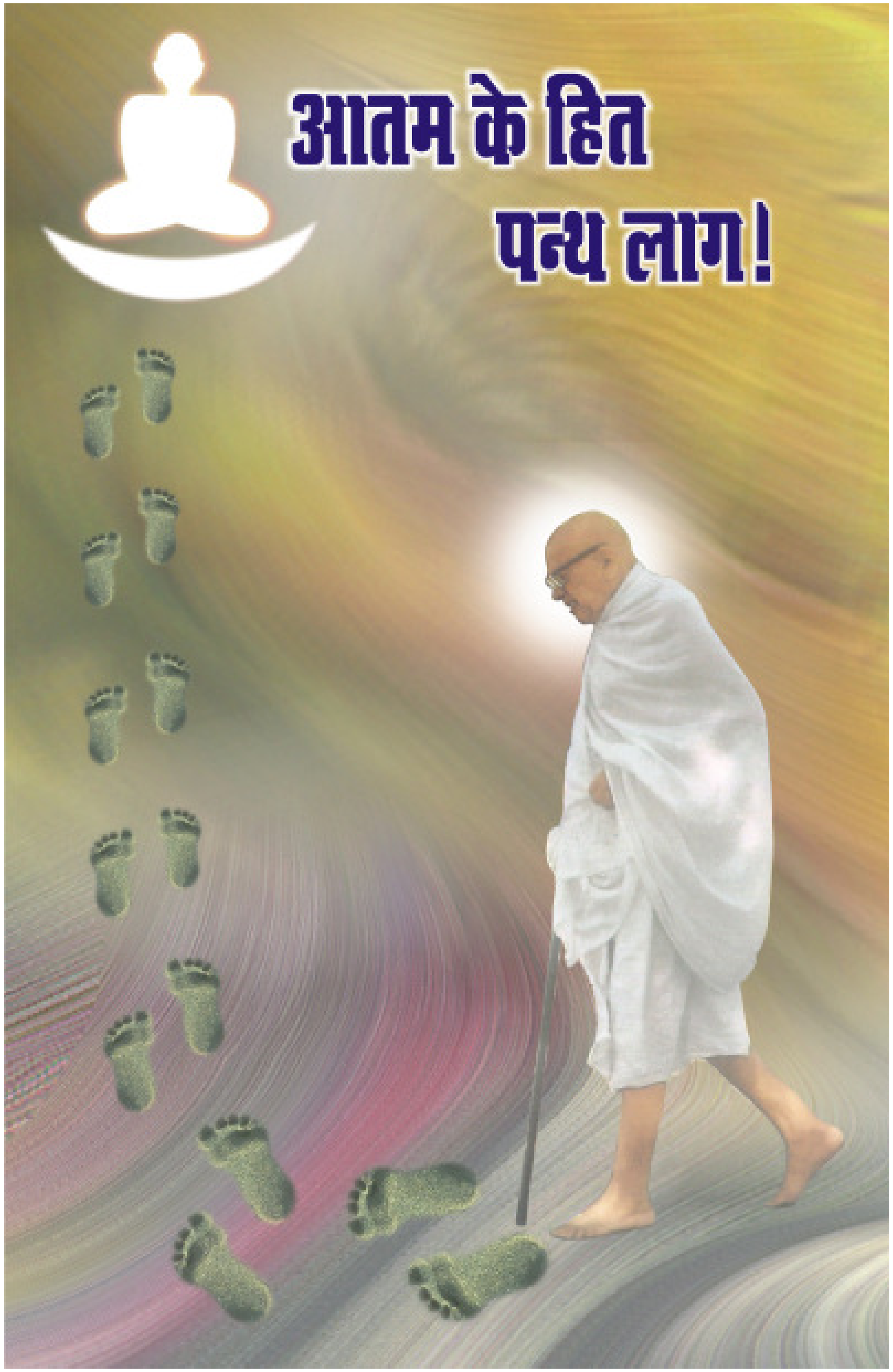


ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

# आतम के हित पन्थ लाग!

परम उपकारी जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री
कानजीस्वामी के आत्महित की प्रेरणादायक
विशिष्ट प्रवचनों का सङ्कलन

सङ्कलन, हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन :
**पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन**
तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :
**श्री ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट**
महावीर चौक, खैरागढ़-491881
जिला - राजनाँदगाँव ( छत्तीसगढ़ )

प्रकाशक :
**तीर्थधाम मङ्गलायतन**
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस ( उत्तरप्रदेश ) भारत

**प्रथम संस्करण :** 1000 प्रतियाँ
**द्वितीय संस्करण :** 1000 प्रतियाँ
(दशलक्षण महापर्व, 2009 के पावन अवसर पर)

**ISBN NO. : 978-81-906776-8-4**

न्यौछावर राशि : 25.00 रुपये मात्र

**AVAILABLE AT -**

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN**
Sasni - 204216, Hathras (U.P.) India
e-mail : info@mangalayatan.com

— **PANDIT TODARMAL SMARAK BHAWAN**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur - 302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
**SHREE KUNDKUND-KAHAN PARMARTHIK TRUST,**
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd.,
V.L. Mehta Marg, Vile Parle (W),
Mumbai - 400056
Ph. : 022-26130820, (Res.) 24015434
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **SHRI KUNDKUND KAHAN JAIN SAHITYA KENDRA**
Songarh (Guj.)

मुद्रण व्यवस्था :
**देशना कम्प्यूटर्स,** जयपुर

# प्रकाशकीय

(द्वितीयावृत्ति)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के आत्महित की प्रेरणा प्रदायक मङ्गल प्रवचनों का अद्भुत सङ्कलन **आतम के हित पन्थ लाग!** का द्वितीय संस्करण सद्धर्म प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए, हमे अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस प्रवचन ग्रन्थ में पूज्य गुरुदेवश्री ने आत्महित का उपाय दर्शाते हुए आत्मार्थी जीव की सत्पात्रता, आत्म-लगन, मुक्ति के प्रति उल्लसित वीर्य एवं मानव जीवन की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए आत्महित के पथ में लगने की पावन प्रेरणा प्रदान की है।

वर्तमान शताब्दी में दृष्टिगोचर दिगम्बर जिनधर्म की प्रभावना में पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का अविस्मरणीय योगदान रहा है। पूज्यश्री ने स्थानकवासी श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में जन्म लेकर, स्वयं बुद्ध की तरह न केवल सत्य का अनुसन्धान ही किया, अपितु उसे प्राप्त भी किया और प्रचारित भी किया। आज इसमें कोई मतभेद नहीं है कि यदि पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का उदय नहीं हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में आध्यात्मिक जागृति का नितान्त अभाव ही रहता।

विक्रम सम्वत् 1978 की वह पावन घड़ी, जिस दिन पूज्य गुरुदेवश्री के करकमलों में शासन स्तम्भ श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा विरचित समयसार परमागम आया, जिसे प्राप्त कर उन्होंने क्या नहीं पाया? क्या नहीं छोड़ा? भगवान समयसार स्वरूप शुद्धात्मा को पाया और मिथ्यामताग्रह का विष छोड़ा। तभी से लगातार 45 वर्षों तक पूज्यश्री के द्वारा वीतरागी जिनशासन की जो अविस्मरणीय प्रभावना हुई, वह आज देश-विदेश में अपनी जड़ें जमा चुकी है।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, तथापि उनकी वाणी कैसेट्स, सी.डी. एवं डी.वी.डी में अवतीर्ण होकर तथा सत्साहित्य के रूप में

प्रकाशित होकर, इस पञ्चम काल के अन्त तक भव्यजीवों को मुक्तिमार्ग का बोध प्रदान करती रहेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री के मङ्गल प्रभावना उदय में सैकड़ों जिन मन्दिरों एवं कई भव्य सङ्कुलों का निर्माण हुआ है, जो उनके द्वारा प्रसारित भगवान महावीर के जीव मात्र को हितकारी आध्यात्मिक सन्देशों के व्यापक प्रचार-प्रसार में संलग्न है।

***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** भी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रभावना उदयरूपी वटवृक्ष की एक शाखा है। अत्यन्त अल्पकाल में इस तीर्थधाम ने न मात्र जैन, अपितु जैनेतर समाज के हृदय में भी अपना अमिट प्रभाव स्थापित किया है। सत्य तो यह है कि ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के तत्त्वज्ञान का प्रभापुञ्ज ही है।

सत्साहित्य का प्रकाशन भी ***तीर्थधाम मङ्गलायतन*** की कई कल्याणकारी योजनाओं में से एक है। इसी के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ '**आतम के हित पन्थ लाग!**' प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस ग्रन्थ में समागत प्रवचनों का गुजराती सङ्कलन पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्य शिष्य एवं आत्मधर्म के सम्पादक **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** द्वारा किया गया है एवं इसी विषय से सम्बन्धित कुछ प्रवचन 'वचनामृत प्रवचन' तथा 'प्रवचन रत्नाकर' से सङ्कलित किये गये हैं। तदर्थ हम **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** के विशेष आभारी हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के इन गुजराती प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण एवं सम्पादन कार्य ***मङ्गलायतन*** के विद्वान् पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलिया द्वारा सम्पन्न किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें प्रकाशनकर्ता के रूप में **तन्मय ग्रन्थमाला** के अन्तर्गत **श्री ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, महावीर चौक, खैरागढ़** का आर्थिक सहयोग श्री मोतीलालभाई, खैरागढ़ के सौजन्य से प्राप्त हुआ है। तदर्थ हम उनके आभारी हैं।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन ग्रन्थ का स्वाध्याय करके निज आत्महित साधें – यही भावना है।

**पवन जैन**

दिनाङ्क : **28 अगस्त 2009**

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान
दिगम्बर जैन ट्रस्ट

# सम्पादकीय

आत्मा का हित सुख है और सुख का लक्षण निराकुलता बतलाया गया है। मुक्तदशा में आकुलताओं का सम्पूर्ण अभाव हो जाता है; अतः मुक्ति की प्राप्ति के लिए आत्मार्थी जीवों का कर्तव्य मुक्ति के मार्ग में लगना ही है।

मुक्ति के अभिलाषी आत्मार्थी जीव की सत्पात्रता; संसार से वैराग्य; मुक्ति के प्रति उसका उल्लास एवं पुरुषार्थ आदि कैसा होता है – इन सबका विवेचन सम्पूर्ण जिनागम में विविध शैलियों में उपलब्ध होता है। इसी सन्दर्भ में मानव जीवन की दुर्लभता एवं इस चिन्तामणि तुल्य अवसर का सदुपयोग करने की पावन प्रेरणाएँ भी ज्ञानी धर्मात्माओं की वाणी में प्रस्फुटित हुई हैं। आत्मार्थी जीव का तत्त्वनिर्णय एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुक्तिमार्ग की प्राप्ति का प्रायोगिक मार्ग भी वीतरागी सन्तों की अकारण करुणा से हमें सहज उपलब्ध हुआ है।

इस प्रकार सम्पूर्ण जिनागम में आत्मकल्याण के विविध पहलूओं का व्यापक प्रतिपादन हुआ है, जो प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनुकरणीय है, अनुप्रेक्षणीय है।

जिनागम के आलोक में उपलब्ध इस आत्महितकारी परम सत्यमार्ग का प्रतिपादन इस युग के आध्यात्मिक सन्त, हमारे जीवन शिल्पी, **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ने अपनी अनुभवरस झरती वाणी में अत्यन्त सरल, सुबोध एवं रोचक शैली में किया है। गुरुदेवश्री के ये अमृत प्रवचन पढ़ते ही आत्मपिपासु जीव, आत्महित की पावन भावना से ओतप्रोत हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री की इस अमूल्य धरोहर को उन्हीं के सुयोग्य शिष्य **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन,** सोनगढ़ ने 'सम्यग्दर्शन भाग-1 से 6' तक संग्रहीत करके महान कार्य किया है। ज्ञात हो कि यह सभी प्रवचन आत्मधर्म में भी प्रकाशित हो चुके हैं। हमने उनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रवचनों का सङ्कलन इस ग्रन्थ में किया है। इन प्रवचनों के साथ-साथ इस विषय से सम्बन्धित कुछ अन्य प्रवचन

भी इस सङ्कलन में 'वचनामृत प्रवचन' एवं 'प्रवचन रत्नाकर' से सङ्कलित किये गये हैं।

इस प्रवचन ग्रन्थ में समाहित विषयवस्तु का गहराई से अध्ययन-मनन करके आत्महित के पन्थ में लगना ही हमारा एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए।

**आभार प्रदर्शन**

**'आतम के हित पन्थ लाग!'** ग्रन्थ के प्रकाशन के पावन अवसर पर सर्वप्रथम वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए, उनके श्री चरणों में सादर वन्दन समर्पित करता हूँ।

इन अमूल्य प्रवचनों को भेंट देकर हमें मुक्तिमार्ग की प्रेरणा देनेवाले हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री के श्रीचरणों में विनयाञ्जलि समर्पित करते हुए आदरणीय ब्रह्मचारी हरिलाल जैन के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ। इस प्रवचन ग्रन्थ के मूल प्रेरक अपने विद्यागुरु पण्डित कैलाशचन्द्र जैन, अलीगढ़ के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। प्रूफ संशोधन एवं समुचित मार्गदर्शन के लिए आदरणीय श्री पवन जैन, अलीगढ़ के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इस ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन के प्रेरक पण्डित अशोककुमार लुहाड़िया, कवर डिजायन में सहयोग के लिये पण्डित संजय जैन शास्त्री को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

सभी आत्मार्थी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर आत्महित के पन्थ में लगें – यही भावना है।

**देवेन्द्रकुमार जैन**
दिनाङ्क, 18 मई 2008 **तीर्थधाम मङ्गलायतन**
अलीगढ़

# अनुक्रमणिका


| | |
|---|---|
| 1. भव-भ्रमण का भय | 1 |
| 2. आत्मज्ञानी जीवों की विरलता | 6 |
| 3. शुद्धात्म-प्राप्ति की दुर्लभता | 11 |
| 4. धन्य जीवन | 17 |
| 5. मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास | 23 |
| 6. महादुर्लभ मानव जीवन | 26 |
| 7. सम्यग्दर्शन का सुनहरा अवसर | 38 |
| 8. सत् की प्राप्ति के लिए अर्पणता | 44 |
| 9. सत् के गहरे संस्कार डाल! | 48 |
| 10. छह माह का कोर्स | 54 |
| 11. श्रीगुरु का आत्महितकारी सम्बोधन | 59 |
| 12. मुमुक्षु का मङ्गल अभिप्राय | 76 |
| 13. आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही ज्ञानियों को सम्मत | 79 |
| 14. आत्मानुभव के लिए आत्मा की धगश और उमङ्ग | 88 |
| 15. अनुभव का उपदेश | 95 |
| 16. आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मलगन | 102 |
| 17. आत्मार्थी जीव का उत्साह और आत्मनिर्णय | 114 |
| 18. आत्मार्थी जीवों को वीतरागी सन्तों का मधुर सम्बोधन | 124 |
| 19. जिज्ञासु को धर्म कैसे करना चाहिए? | 134 |

20. आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य 160
21. निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? 161
22. आँगन कैसा हो? 172
23. निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग 182
24. सम्यग्दर्शन का व्यवहार 192
25. भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन 206
26. नव तत्त्व का स्वरूप और जीव-अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता 220
27. सम्यग्दर्शन के लिए अपेक्षित भूमिका 233
28. निज शुद्धात्मा का अनुभव 251
29. भगवान आत्मा की प्रसिद्धि 267
30. मौत सिर पर मँडरा रही 275
31 मृत्यु सूचना देकर नहीं आती 286
32. हे जीव! लाखों का एक-एक क्षण जा रहा है... 299

ॐ

**परमात्मने नमः**

# आतम के हित पन्थ लाग!

## 1. भव-भ्रमण का भय

यह आत्मा अपने स्वभाव को भूलकर अनन्त काल से चौरासी लाख योनियों में जन्म धारण करके परिभ्रमण कर रहा है। यह शरीर तो नया है और श्मशान में राख हो जानेवाला है। आत्मा के भान बिना ऐसे अनन्त शरीर हो चुके हैं और जो आत्मा का भान नहीं करेगा, उसे अभी अनन्त शरीर धारण करने पड़ेंगे।

अरे रे! मुझे कहाँ तक यह जन्म-मरण करने हैं। इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है।

देखो, यह जीव एक सर्प देखने पर कितना अधिक भयभीत होता है क्योंकि इसे शरीर के प्रति ममत्व और प्रीति है। अरे! प्राणी को एक शरीर पर सर्प के डंसने का इतना भय है तो अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं है ? आत्मा की समझ बिना अनन्त अवतार के दु:ख खड़े हैं, इस बात का तुझे भय क्यों नहीं है ? अरे! यह भव पूरा हुआ, वहीं दूसरा भव तैयार है; इस प्रकार एक के बाद दूसरा भव, तू अनन्त काल से कर रहा है। आत्मा स्वयं सच्ची समझ न करे तो जन्म-मरण का अभाव नहीं होता।

अरे रे! जिसे चौरासी के अवतार का डर नहीं है, वह जीव आत्मा को समझने की प्रीति नहीं करता। अरे! मुझे अब चौरासी के अवतार का परिभ्रमण किस प्रकार मिटे ? - ऐसा अन्दर में भव-भ्रमण का भय लगे तो आत्मा की दरकार करके सच्ची समझ का प्रयत्न करे।

देखो, यह जीव करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भव-भ्रमण से थकान नहीं लगती है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए' - इस प्रकार यदि तुझे भव-भ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है।

मुख्यरूप से मनुष्यभव में ही सच्ची समझ उपलब्ध होती है - ऐसा मनुष्यभव महादुर्लभ है। मनुष्यभव तो आत्मा की समझ करने



से ही सार्थक है। लोग कहते हैं 'चलो भाई मेला देखने, यह मनुष्यभव फिर से नहीं मिलेगा, चलो मेले में।' अरे भाई! क्या तुझे मेला देखने के लिये यह मनुष्यभव मिला है ? अहो! अज्ञानी जीव यह मनुष्यभव प्राप्त करके, विषयभोगों में सुख मानकर अटक जाते हैं। जिस प्रकार बालक एक पेड़ा / मिष्ठान के मूल्य में लाखों का हार दे देता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, पुण्य-पाप और विषयभोग के स्वाद में अमूल्य चेतनरूपी आत्मा को बेच देता है। महामूल्यवान् मनुष्यभव में आत्मा की समझ करने के बदले विषयभोग में जीवन गँवा देता है।

जो जीव, आत्मा की रुचि और मिठास छोड़कर धन, शरीर तथा भोग की रुचि और मिठास करता है, वह जीव, आत्मस्वभाव की हत्या और भावमरण करता है। ऐसे भावमरण का अभाव करने के लिए करुणा करके आचार्यदेव ने सत्शास्त्रों की रचना की है।

क्षणिक विकार को अपना मानकर, आत्मस्वभाव का अनादर करना ही भावमरण है/मृत्यु है। इस भावमरण का अभाव, अमर आत्मस्वभाव की पहचान से होता है। इसलिए हे भाई! यदि तुझे भव-दु:खों का भय हो तो आत्मा को समझने की प्रीति कर! जन्म-मरण के अन्त की बात अपूर्व है, मूल्यवान् है और जिसे समझने की धगश जागृत होती है, उसे समझ में आ सके - इतनी सरल भी है।

जिस प्रकार कुँवारी कन्या, पिता के घर को अपना घर और उसकी पूँजी को अपनी पूँजी कहती है परन्तु जहाँ उसकी सगाई होती है तो तुरन्त ही यह मान्यता बदल जाती है और वह मानने लगती है कि पिता का घर और पूँजी मेरी नहीं है। जहाँ सगाई हुई

है, वह घर और वर, मेरा है। देखो, मान्यता बदलने में कितनी देर लगती है ? इसी प्रकार अनादि से संसार में परिभ्रमण करता हुआ जीव, शरीर को ही अपना घर मान लेता है परन्तु जहाँ ज्ञानी ने समझाया कि 'सर्व जीव हैं सिद्धसम, जो समझे वह होय' – अर्थात् सभी आत्माएँ अपने स्वभाव से सिद्ध समान ही हैं – ऐसी रुचि और ज्ञान हुआ, वहाँ एकदम रुचि बदल गयी और भासित हुआ कि यह पुण्य–पाप अथवा शरीर मेरा नहीं है; मैं तो सिद्ध समान हूँ, सिद्धपना ही मेरा स्वरूप है।

जिस प्रकार सगाई होने के बाद भी वह कन्या कुछ समय तक पिता के घर में रहती है तो भी लक्ष्य तो ससुराल में ही है; इसी प्रकार जहाँ आत्मस्वभाव का भान हुआ, वहाँ सिद्ध के साथ सगाई हो गयी; अब थोड़े समय अर्थात् दो–चार भव संसार में रहे तो भी धर्मी का लक्ष्य बदल गया है। सिद्ध जैसा स्वभाव वह मैं हूँ और यह मैं नहीं; इस प्रकार अन्तर्दृष्टि बदल गयी है।

भाई ! यह तो अन्तर की बात अपूर्व है, जिसे अत्यन्त सरल रीति से कहा जा रहा है। दूसरी सब बातें तो सारी जिन्दगी में सुनी होगी, परन्तु यह आत्मा की अपूर्व बात है, जो भाग्यशाली को ही सुनने मिलती है। प्रभु ! तुमने अपनी आत्मा की बात कभी प्रीति से सुनी भी नहीं है।

भाई ! अन्तर में विचार करो कि तुम्हें आत्मा का प्रेम कितना है ? और स्त्री–पुत्रादि के प्रति कितना प्रेम है ? अन्दर में जो पुण्य –पाप की वृत्तियाँ होती हैं, वही मैं हूँ – ऐसा मानकर उनकी प्रीति करता है परन्तु आत्मा कौन है ? – उसकी समझ नहीं करता। बाहर में 'यह ठीक है और यह ठीक नहीं है' – ऐसा मानकर अटक



जाता है परन्तु आत्मा को तो पहचानता नहीं; इस प्रकार परवस्तु में इष्ट–अनिष्ट की कल्पना करके अज्ञानी तो संसार में परिभ्रमण किया करता है और ज्ञानी तो पर से भिन्न आत्मा को पहचानकर निर्मलपर्याय प्रगट करके सिद्ध हो जाता है।

आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण है और पर से रिक्त है। भगवान् आत्मा, ज्ञान से भरपूर और राग–द्वेष से खाली है – ऐसे आत्मा का भान करना, वह सुई में डोरा पिरोने जैसा है। जैसे, डोरा पिरोई हुई सुई गिर जाने पर भी खोती नहीं है; उसी प्रकार जिसने अपनी आत्मा में सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरोया है, उसे कदाचित् एक–दो भव हों तो भी उसका आत्मभान मिटता नहीं है और वह संसार में दीर्घ काल तक परिभ्रमण नहीं करता है। इसलिए जिसे भव–भ्रमण का भय हो, उसे इस मनुष्यभव में सच्ची समझरूपी डोरा आत्मा में पिरो लेना चाहिए। ● *( सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 105-108 )*

## मुनिराज की उदासीन परिणति

मुनिवरों की परिणति एकदम अन्तरस्वभाव में ढल गई है, इसलिए जगत की ओर से वे अत्यन्त उदासीन हो गये हैं। जैसे, बीस वर्ष के इकलौते पुत्र की मृत्यु पर उसकी माता अत्यन्त उदास–उदास हो जाती है, उसी प्रकार जिनका मोह मर गया है – ऐसे मुनिवर, संसार से एकदम उदासीन हो गये हैं। दृष्टान्त में माता की उदासीनता तो मोहकृत है, जबकि मुनिवरों की उदासीनता तो निर्ममत्व के कारण है। माता, पुत्र प्रेम के कारण उदास हुई है तो मुनि, चैतन्य के प्रेम के कारण संसार से उदासीन हुए हैं। *( आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486 )*

## 2. आत्मज्ञानी जीवों की विरलता

अपने ज्ञान-आनन्दमय जीव को भूलकर, अज्ञान के कारण अनादि काल से जीव संसार-परिभ्रमण कर रहा है और प्रतिक्षण भावमरण से मर रहा है। उस भावमरण का अभाव करने के लिये यह बात है।

आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है, आत्मा में शान्ति है; जिसे इस बात का पता नहीं है, वह बाहर में शान्ति मानता है परन्तु वहाँ शान्ति नहीं है। शरीर, पैसा, परिवार इत्यादि वस्तुओं में सुख नहीं है, वे तो परवस्तुएँ हैं। वे पड़ी रहती हैं और आत्मा कहीं चला जाता है, इसलिए उनमें सुख नहीं है किन्तु जीव, अज्ञान से उनमें सुख मानता है और शरीर इत्यादि में अपनापना मानता है - यही संसार है और इसी का दुःख है। उस दुःख के अभाव का उपाय बताते हुए ज्ञानी कहते हैं कि भाई! सुख तो आत्मा में है। यह बात समझने से ही शान्ति प्राप्त होती है परन्तु पहिले इसकी रुचि होना चाहिए कि अरे रे! मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? अनन्त काल में महामूल्यवान् मनुष्यभव प्राप्त हुआ तो उसमें आत्मा का स्वरूप है? - यह जानने से दुःख का अभाव होगा। संसारी जीव के भावमरण का अभाव होने के लिये ज्ञानियों का करुणापूर्ण उपदेश है।

आत्मा में चैतन्य खजाना है। अन्दर में आनन्द और शान्ति है



परन्तु जिस प्रकार कस्तूरी मृग अपनी नाभि में स्थित कस्तूरी को भूलकर बाह्य में सुगन्ध मानता है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव बाहर में सुख खोजता है। अन्दर में सुख है - ऐसे आत्मा का ज्ञान हो तो सद्बोधरूपी चन्द्रमा का उदय होता है और फिर जिस प्रकार दूज में से पूर्णिमा होती है, उसी प्रकार उस सम्यग्ज्ञान में से केवलज्ञान होता है।

यह आत्मा, सुख का भण्डार है। इसमें से ही सुख प्रगट होता है। जिस प्रकार कच्चे चने को सेकने पर उसमें से मिठास प्रगट होती है, वह मिठास बाहर से प्रगट नहीं होती; अपितु चने में ही विद्यमान थी, वह प्रगट हुई है। इसी प्रकार सच्ची पहचान करने पर आत्मा में सुख प्रगट होता है, वह बाहर से नहीं आता; अपितु अन्दर भरा है, उसी में से आता है। इस मनुष्यभव में आत्मा का सच्चा ज्ञान करना ही कर्तव्य है।

यदि मनुष्य अवतार प्राप्त करके भी आत्मा की पहिचान नहीं की तो इस अवतार की कोई विशेषता नहीं है। जिस प्रकार कच्चा चना कड़वा लगता है और उसे बो दिया जाए तो उगता है परन्तु उसे सेक दें तो मिठास आती है और वह फिर से उगता नहीं है। इसी प्रकार आत्मा, अज्ञानभाव से दुःखी है और नये-नये भव धारण कर रहा है परन्तु आत्मा की सच्ची पहचान करने से उसे सुख प्रगट होता है और फिर से भव धारण नहीं करना पड़ता।

यह आत्मा, आबाल-गोपाल सबको ख्याल में आ सके — ऐसा है। आत्मा, मोक्षसुख का देनेवाला है - ऐसे आत्मा को अनुभव से जाना जा सकता है किन्तु महान् विद्वान् भी वाणी से

उसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते। वह ज्ञान में आता है किन्तु वाणी में नहीं आता। जिस प्रकार घी खाने पर उसके स्वाद का ज्ञान होता है परन्तु वाणी में वह सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता; इसी प्रकार आत्मा का स्वरूप ज्ञान में ज्ञात होता है परन्तु वाणी में नहीं कहा जा सकता। जब आत्मा को जाननेवाला ज्ञानी भी उसे वाणी से सम्पूर्णरूप से कहने में समर्थ नहीं है, तब अज्ञानी तो उसे कह ही कैसे सकता है ?

यह मनुष्य देह, दुर्लभ है और इसमें भी आत्मा का भान करना तो महादुर्लभ है। बहुत से जीव, मनुष्यपना प्राप्त करके भी आत्मा को नहीं जानते और तीव्र लोलुपता से कौए-कीड़े-मकोड़े जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। यहाँ कहते हैं कि हे भाई! मनुष्यपना पाकर तू अपने आत्मा को जान! आत्मस्वभाव ऐसा है कि ज्ञान से अनुभव किया जा सकता है परन्तु वाणी में नहीं आ सकता।

श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि :

**जो पद झलके श्री जिनवर के ज्ञान में,**
**कह न सके पर वह भी श्री भगवान जब।**
**उस स्वरूप को अन्य वचन से क्या कहूँ,**
**अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब॥**

ऐसे आत्मा का भान अभी विदेहक्षेत्र में आठ-आठ वर्ष के राजकुमार भी करते हैं। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ – ऐसा अनुभव आठ वर्ष के बालक भी कर सकते हैं। चैतन्य की महिमा का विस्तार इतना अधिक है कि वाणी से पार नहीं पड़ता, परन्तु ज्ञान के अनुभव से ही पार पड़ता है। घी का वर्णन लिखकर चाहे जितनी



पुस्तकें भर दें अथवा चाहे जितना कथन करे, परन्तु उससे सामनेवाले जीव को घी का स्वाद नहीं आ सकता; इसी प्रकार चैतन्य का कितना भी कथन किया जाए, किन्तु अनुभव के बिना उसका पता नहीं पड़ता अर्थात् साक्षात्कार नहीं होता।

भाई! आत्मा को जाने बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आ सकता। आत्मा, जानने-देखनेवाला पदार्थ है; महिमावन्त भगवान है; वाणी, जड़-अचेतन है, उससे आत्मा ज्ञात नहीं होता। तब आत्मा को जानने का उपाय क्या ? यही कि स्वानुभव द्वारा वह ज्ञात होता है। लाखों-करोड़ों प्राणियों में कोई विरला प्राणी ही अन्तर में अनुभव करके आत्मा को जानता है। पुण्य से आत्मस्वरूप की पहचान नहीं होती, क्योंकि वह तो आत्मस्वरूप से बहिर्भाव है। आत्मतत्त्व, अन्तर्मुख स्वानुभव से ही ज्ञात होता है। करोड़ों जीवों में कोई विरले जीव ही स्वानुभव से जिस आत्मा को जानते हैं, वह आत्मस्वभाव इस जगत् में जयवन्त वर्तो –ऐसा कहकर, यहाँ माङ्गलिक किया है।

अन्तर में आत्मस्वरूप तो प्रत्येक को है परन्तु स्वानुभव द्वारा करोड़ों जीवों में कोई विरले जीव ही उसे जानते हैं। यद्यपि वह अन्तर में है तो, तथापि बाहर में भ्रमते हैं।

एक शिष्य को ज्ञान चाहिए था। उसने किसी के समीप जाकर कहा कि मुझे ज्ञान दो, तब उसने कहा कि अमुख सरोवर की मछली के पास जाकर कहना, वह तुझे बतायेगी। वह मनुष्य, मछली के पास गया और कहने लगा – 'हे मछली! मुझे ज्ञान चाहिए।' तब मछली ने कहा – 'भाई! मुझे बहुत जोरदार प्यास लगी है; इसलिए पहले मुझे पानी पिलाओ, फिर मैं तुम्हें ज्ञान

बताऊँगी।' तब उस मनुष्य ने आश्चर्य से कहा – 'अरे! तू इस मधुर जल के सरोवर में पड़ी है, तेरे पास पानी भरा है, फिर भी तुम मुझसे पानी माँग रही हो?' उत्तर में मछली ने कहा – 'भाई! तेरा ज्ञान तो तेरे अन्तर में पूरा-पूरा है, उसमें से ज्ञान निकाल, बाह्य में से ज्ञान नहीं आता।' देखो, अपने में ज्ञान भरा है, उसे तो जीव जानता नहीं और बाहर में ज्ञान खोजता है, तो कैसे प्राप्त होगा? अन्तरस्वभाव में ज्ञान भरा है, उसे पहचानने से सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होकर आत्मा की मुक्ति होती है।

वास्तविक जिज्ञासु को गृहस्थाश्रम में भी आत्मा का भान होता है। राज-पाट, स्त्री-पुत्रादि होने पर भी आत्मा को समझ सकता है और कल्याण होता है। आत्मा को समझे बिना, वह स्त्री-पुत्रादि अथवा घर-बार को छोड़कर जङ्गल में रहे तो भी उसका कल्याण नहीं होता।

आत्मस्वभाव महिमावन्त है, वह मोक्षसुख का प्रदाता है; वह स्वानुभव से ज्ञात होता है किन्तु वाणी के विस्तार से ज्ञात नहीं होता। ऐसे आत्मस्वभाव को जाननेवाले लाखों-करोड़ों जीवों में कोई विरले ही होते हैं। ऐसा आत्मा जयवन्त वर्तता है और आत्मा को जाननेवाले भी सदा होते हैं। यद्यपि आत्मा को जाननेवाले विरले ही होते हैं परन्तु उनका विरह कभी नहीं होता। पूर्व काल में आत्मा को जाननेवाले थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में भी होंगे।

ऐसे आत्मा को जानने से मुक्ति प्रगट होती है और संसार में परिभ्रमणरूप जन्म-मरण का अभाव होता है। इसलिए आत्मा को जानना ही मनुष्यभव का कर्तव्य है। ● *(सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 27-30)*

# 3. शुद्धात्म-प्राप्ति की दुर्लभता

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए जीवों को शुद्ध आत्मा की समझ दुर्लभ है, यह बताते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव समयसार की चौथी गाथा में कहते हैं कि —

(1) काम-भोग-बन्धन की कथा को समस्त जीवों को सुनने में आ गयी है परन्तु....,

(2) भिन्न आत्मा के एकत्व की बात जीव ने कभी सुनी ही नहीं है।

देखो! इस कथन से निम्न न्याय निकलते हैं :-

(1) निगोद में ऐसे अनन्त जीव हैं कि जिन्होंने कभी मनुष्यभव धारण ही नहीं किया है, जो कभी निगोद में से निकले ही नहीं हैं; जिन्हें कभी श्रवणेन्द्रिय प्राप्त ही नहीं हुई है, तो उन्होंने काम-भोग-बन्ध की कथा किस प्रकार सुनी?

समाधान यह है कि उन जीवों ने शब्द भले ही नहीं सुने हों परन्तु काम-भोग की कथा के श्रवण का जो कार्य है, उसे तो वे कर ही रहे हैं। शब्द न सुनने पर भी उसके भाव अनुसार विपरीत प्रवर्तन तो वे कर ही रहे हैं। काम-भोग की कथा सुननेवाले अज्ञानी जीव जिस विकार का अनुभव कर रहे हैं और कह रहे हैं, वैसा वे

निगोद के जीव, कथा सुने बिना ही कर रहे हैं; इसलिए उन्होंने भी काम-भोग-बन्धन की कथा सुनी है - ऐसा आचार्यदेव ने कहा है।

एक तो शुद्धात्मा के भान बिना अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक के भव करनेवाला जीव और दूसरा नित्य निगोद का जीव है - यह दोनों एक ही जाति के हैं, दोनों अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव कर रहे हैं। निगोद के जीव को श्रवण का निमित्त प्राप्त नहीं हुआ और नौवें ग्रैवेयक जानेवाले जीव को निमित्त प्राप्त होने पर भी उसका उपादान नहीं सुधरा; इसलिए उसने शुद्धात्मा की बात सुनी - ऐसा यहाँ अध्यात्मशास्त्र में नहीं गिना जाता। काम-भोग की कथा तो निमित्तमात्र है, उसे सुनने का फल क्या है ? विकार का अनुभव। उस विकार का अनुभव तो निगोद का जीव कर ही रहा है; इसलिए उस जीव ने काम-भोग की कथा सुनी है।

2. अज्ञानी जीव ने अनन्त बार तीर्थङ्कर भगवान के समवसरण में जाकर उनकी दिव्यध्वनि में शुद्धात्मा की बात सुनी है, फिर भी आचार्य भगवान कहते हैं कि आत्मा के शुद्धस्वभाव की वार्ता उन जीवों ने कभी नहीं सुनी है, क्योंकि अन्तर की रुचि से उसका परिणमन नहीं किया है; शुद्धात्मा का अनुभव नहीं किया है, इसलिए वस्तुतः उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है।

शुद्धात्मा का श्रवण किया तो तब कहलाता है कि जब उसका आशय समझकर तदनुसार परिणमित हो अर्थात् भावपूर्वक के श्रवण को भी यहाँ सुनने में गिना गया है। निमित्त के साथ उपादान का मेल होने पर ही उसे निमित्त कहते हैं। अनादि से काम-भोग- बन्धन की कथा के निमित्त के साथ जीव के उपादान



का मेल हुआ है परन्तु शुद्ध ज्ञायक एकत्व-विभक्त आत्मस्वरूप को बतलानेवाले निमित्त के साथ उसके उपादान का मेल नहीं हुआ है; इसलिए उसने शुद्ध आत्मा की बात सुनी ही नहीं है। यहाँ तो उपादान-निमित्त की सन्धिपूर्वक कथन है। निमित्तरूप से ऐसे अपूर्व श्रवण को स्वीकार किया है कि जिसका श्रवण किया, उसकी रुचि और अनुभव भी करे ही।

कोई जीव भले ही भगवान की सभा में दिव्यध्वनि सुनता हो परन्तु यदि अन्तर में व्यवहार के पक्ष का आशय रखे तो उसने वास्तव में शुद्धात्मा का ग्रहण नहीं किया है, उसके लिये तो वह विकथा का ही श्रवण है। मात्र आत्मा के शब्द कान में पड़ना, वह कहीं शुद्धात्मा का श्रवण नहीं है परन्तु श्रवण, परिचय और अनुभव - इन तीनों की एकता अर्थात् जैसा शुद्धात्मा सुना है, वैसा ही परिचय में-रुचि में लेकर उसका अनुभव करे, इसी का नाम शुद्धात्मा का श्रवण है। जीव ने पूर्व में ऐसा श्रवण कभी नहीं किया है; इसलिए अब तू शुद्धात्मा की रुचि के अपूर्वभाव से इस समयसार का श्रवण करना - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

धर्मकथा अथवा विकथा, मात्र शब्दों में नहीं है, अपितु भाव पर उसका आधार है। जहाँ युद्ध अथवा शरीर के रूप इत्यादि का वर्णन आवे, वहाँ उसे सुननेवाला यदि अपने में वैराग्यभाव का पोषण करता हो तो उसके लिए वह वैराग्यकथा है और उन्हीं शब्दों को सुनकर जो जीव अपने विषय-कषाय के भावों का पोषण करता हो, उसके लिए वह विकथा है। इसी प्रकार यहाँ जो जीव, शुद्धात्मा की रुचि करे, उसी ने शुद्धात्मा की बात सुनी - ऐसा कहा जाता है। शुद्धात्मा के शब्द कान में पड़ने पर भी यदि विकार की

रुचि का परित्याग नहीं करे तो उसने शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि निमित्त पर कुछ भी वजन नहीं रहा, अपितु अपने उपादान में रुचि के भाव पर ही वजन आया।

जैसे, कोई पिता अपने पुत्र से कहे कि जा, बाजार से शक्कर ले आ! यदि उसका पुत्र, शक्कर के बदले अफीम ले आवे तो उसने अपने पिता की बात सुनी नहीं कहा जाता। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और सन्त, शुद्धात्मा का स्वरूप बतलाकर, उसका अनुभव करने के लिये कहते हैं। जो जीव, शुद्धात्मा का तो अनुभव नहीं करता और विकार की रुचि करके उसका ही अनुभव करता है तो उस जीव ने वास्तव में शुद्धात्मा की बात सुनी ही नहीं है।

भगवान की दिव्यध्वनि में तो एक साथ निश्चय-व्यवहार इत्यादि सब वर्णन आता है। उसे सुनते ही 'व्यवहार है न! राग है न! निमित्त है न!' इस प्रकार जो जीव, व्यवहार पर वजन देता है किन्तु 'आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञायक है' – इस प्रकार शुद्धात्मा के अस्तित्व पर वजन नहीं देता अर्थात् अपनी रुचि को शुद्धात्मा की ओर नहीं लगाता, उस जीव ने भगवान की वाणी नहीं सुनी, क्योंकि भगवान की वाणी सुनने से पूर्व उसका जो भाव था, वैसे ही भाव का भगवान की वाणी सुनने के बाद भी वह सेवन कर रहा है।

जितने जीव, शुद्ध आत्मा की रुचि की ओर नहीं ढलकर, अशुद्ध आत्मा की अर्थात् व्यवहार की, राग की, निमित्त की, पराश्रय की रुचि करते हैं, उन सभी जीवों ने काम-भोग-बन्धन की कथा ही सुनी है किन्तु शुद्धात्मा की बात नहीं सुनी है। जैसा कार्य ये जीव कर रहे हैं, वैसा ही कार्य नित्य-निगोद के जीव भी



कर ही रहे हैं। अनादि से वाणी नहीं सुनी थी, तब जो दशा थी, उसमें वाणी सुनने के बाद कुछ अन्तर नहीं पड़ा और वैसी ही दशा रही तो उसने आत्मस्वभाव की बात सुनी है – ऐसा ज्ञानी स्वीकार नहीं करते हैं।

यदि एक बार भी आत्मा के शुद्धस्वभाव की बात प्रीतिपूर्वक सुनें तो अल्प काल में ही उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहे।

जीव ने कभी सच्चे निमित्त के समक्ष अपने एकत्वस्वभाव का श्रवण ही नहीं किया है, सच्चे लक्ष्यपूर्वक उसका परिचय नहीं किया है और विकल्प तोड़कर अनुभव नहीं किया है। यहाँ तो ऐसे ही श्रवण को 'श्रवण' के रूप में लिया गया है कि जिस श्रवण के फल में यथार्थ आत्मस्वरूप का परिचय और अनुभव हो; परिचय और अनुभव बिना श्रवण, वह वास्तविक श्रवण नहीं है।

समयसार सुननेवाला शिष्य भी ऐसा सुपात्र है कि समयसार में बतलाये गये आत्मा का एकत्वस्वरूप सुनने में उसे उत्साह आता है और उसमें अपूर्वता भासित होती है। वर्तमान में जिस भाव से मैं श्रवण करता हूँ – ऐसे भाव से मैंने पूर्व में कभी सुना ही नहीं। इस प्रकार वह अपने भाव में अपूर्वता लाकर सुनता है; इसलिए निमित्त में भी अपूर्वता का आरोप आता है। पूर्व में शुद्धात्मा का श्रवण-परिचय और अनुभव नहीं किया था परन्तु अब अपूर्व रुचि प्रगट करके आत्मा का श्रवण-मन्थन और स्वानुभव करने के लिए वह शिष्य तैयार हुआ है।

यहाँ आचार्यदेव पूर्व के श्रवण को निमित्तरूप स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उस समय जीव के भाव में नैमित्तिकभाव नहीं था;

नैमित्तिकभाव प्रगट हुए बिना निमित्त किसका ? 'शुद्धात्मा की बात पहले कभी नहीं सुनी' – ऐसा कहकर श्री आचार्यदेव एकत्वस्वभाव के श्रवण को अपूर्वरूप स्वीकार करते हैं। निमित्त की अपूर्वता है, वह यह प्रसिद्ध करती है कि यहाँ नैमित्तिकभाव में भी अपूर्वता का प्रारम्भ प्रगट हुआ है। यदि उपादान में अपूर्वता प्रारम्भ नहीं हुई हो तो निमित्त की अपूर्वता को स्वीकार कौन करेगा ? निमित्त–नैमित्तिक के मेलपूर्वक एकत्वस्वभाव का श्रवण जीव ने पूर्व में कभी नहीं किया है। निमित्त–नैमित्तिकभाव के मेलवाला श्रवण अपूर्व है, उसमें जीव का नैमित्तिकभाव भी अपूर्व है और उस अपूर्वभाव का निमित्त होने से वह निमित्त भी अपूर्व है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, ( भाग-2 ) समयसार, गाथा 4 के प्रवचन से, पृष्ठ 85-89 ]*

## प्रचुर वीतरागता के धनी

सर्वत्र वीतरागता ही जैनधर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टि हो, देशव्रती श्रावक हो अथवा सकलव्रती मुनिराज हों, सर्वत्र भूमिका के योग्य शुभभाव होने पर भी परिणति में जितनी वीतरागता परिणमित है, उतना धर्म है; साथ में वर्तनेवाला शुभराग, वह कहीं धर्म अथवा धर्म का परमार्थ साधन नहीं है। सुख निधान निज ज्ञायकस्वभाव में रमनेवाले मुनिराज को भी अभी पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हुई है, पूर्णदशा तो अरहन्त परमात्मा को प्रगट हुई है। पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं होने पर भी मुनिराज को वीतरागस्वभावी निज ज्ञायक भगवान के उग्र आलम्बन से प्रचुर वीतरागता उत्पन्न हुई है।

*( वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 126 )*

# 4. धन्य जीवन

अहो! जो चैतन्यलक्ष्यी जीव है, वही प्रशंसनीय है... चैतन्य के लक्ष्यरहित जीवन तो मृतक समान है। चैतन्य का भान करके जो उसके अनुभव में स्थिर हुआ, उसकी धन्यता की तो बात ही क्या? परन्तु जगत् जञ्जाल की चिन्ता छोड़कर, जिसके अन्तरङ्ग में आत्मा के हित की चिन्ता जागृत हुई है, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

यह जीव, अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। अनादि से संसार में परिभ्रमण करते हुए इसने आत्मा को विस्मृत करके, शरीरादि पर की ही चिन्ता की है किन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है और उसका संसार परिभ्रमण कैसे मिटे ? – इसकी चिन्ता कभी नहीं की है; इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि अहो ! जो चैतन्यस्वरूप आत्मा में स्थिर हुए हैं, उनकी तो क्या बात ! परन्तु जिन्होंने आत्मा की चिन्तामात्र का परिग्रह किया है, उनका जीवन भी प्रशंसनीय है।

जो पुरुष इस शुद्धात्मा को पहचान कर, उसके ध्यान में स्थिर रहता है, उसकी बात तो दूर रहो, परन्तु जो पुरुष शुद्धात्मा की चिन्ता का परिग्रह करनेवाला है, उसका जीवन भी इस संसार में प्रशंसनीय है तथा वह देवों द्वारा भी पूज्य है। इसलिए भव्य जीवों

को सदा शुद्धात्मा का चिन्तन करना चाहिए।

श्री पद्मनन्दि मुनिराज, महान् दिगम्बर सन्त मुनि थे। वे जङ्गल में आत्मा की रमणता में निमग्न रहते थे। उन्होंने जङ्गल में इस पद्मनन्दिपञ्चविंशति शास्त्र की रचना की है। उसमें वे कहते हैं कि अहो! जो जीव, देह और विकार से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा को जानकर उसके ध्यान में स्थिर होता है, उसकी बात तो दूर रहो अर्थात् उसकी तो बात ही क्या है! परन्तु जिसे मात्र शुद्धात्मा की चिन्ता का परिग्रह वर्तता है अर्थात् जो अन्य सभी चिन्ताएँ छोड़कर मात्र आत्मा के चिन्तन में सदा तत्पर रहता है, उसका जीवन भी धन्य है। लक्ष्मी इत्यादि के परिग्रह की पकड़ तो ममता और संसार का कारण है; इसलिए उस जीवन को धन्य नहीं कहते, किन्तु चैतन्यतत्त्व की चिन्ता की जिसने पकड़ की है – ऐसे जीवन को सन्त प्रशंसनीय कहते हैं। यहाँ चिन्ता कहने से राग नहीं समझना चाहिए, अपितु ज्ञान में चैतन्य की महिमा का घोलन समझना चाहिए।

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य देह पाकर भी आत्मा के भान बिना मरण किया परन्तु आत्मा क्या है? – उसकी बात का परिज्ञान नहीं किया; इसलिए यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता मिटाकर जो आत्मस्वरूप में स्थिर हैं, उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर लिया है, उनकी तो क्या बात! परन्तु जिन्हें जगत् की चिन्ता छोड़कर, आत्मा की चिन्ता की पकड़ भी हुई है कि अहो! मैंने अपने आत्मा को अनन्त काल से पहचाना नहीं, अनन्त काल में कभी आत्मा का ध्यान नहीं किया; आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों की चिन्ता में ही परिभ्रमण किया



है; अब, सत्समागम से आत्मा को जानकर उसी का ध्यान करनेयोग्य है – ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह करे, पकड़ करे, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी इस पद्मनन्दिपञ्चविशति शास्त्र को 'वन शास्त्र' कहते हैं। यह शास्त्र वन में रचित है और वन में रहकर ज्ञान–ध्यान करने के लिये यह एक उत्तम शास्त्र है; इसलिए इसे 'वन शास्त्र' कहा है। आत्मा का भान करके जो आत्मध्यान में स्थिर हुए हैं, उन्हें तो सर्वत्र वन ही है, उनका आत्मा ही उनका वन है।

अहा! मेरा स्वभाव जगत् का साक्षी/ज्ञाता है, क्षणिक विकार अथवा देह मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसके अन्तर में चैतन्य की चिन्ता जागृत हुई है, उसकी आचार्यदेव प्रशंसा करते हैं। अहो! जो चैतन्यलक्ष्यी जीवन जीता है, वही प्रशंसनीय है। जो जीव, चैतन्य के लक्ष्य बिना जीवन जीते हैं, वे तो मृतक समान हैं।

यह शरीर तो संयोगी अनित्य है – ऐसे शरीर तो अनन्त आये और गये, किन्तु मेरा आत्मा अनादि–अनन्त एकरूप है, उसका कभी नाश नहीं होता। इस प्रकार जिसे दिन–रात आत्मा की चिन्ता जागृत हुई है, आत्मा क्या है? – उसका भान करने के लिये, उसका ध्यान करने के लिये, उसकी भावना करने के लिये, जिसे सदा अन्तर में रटन चालू है, उसका जीवन प्रशंसनीय है। जगत् की, जञ्जाल की चिन्ता के समक्ष जिसे आत्मा के विचार का भी अवकाश नहीं है, उसका जीवन तो व्यर्थ चला जाता है। जगत् की, जञ्जाल की चिन्ता का झंझट छूटकर जिसे आत्मा की चिन्ता जागृत हुई है, उसका जीवन धन्य है।

अमेरिका में ऐसी मशीन होती है कि उसमें पैसा डालते ही अपने आप फोटो पडकर (खिंचकर) बाहर आ जाता है। लोगों को ऐसी मशीन का विश्वास आता है परन्तु आनन्दकन्द आत्मा में जितनी पुरुषार्थ की एकाग्रता करे, उतनी निर्मल पर्याय प्रगट होती है अर्थात् जैसी पुरुषार्थ की एकाग्रता करे, वैसा ही फोटो पर्याय में पड़ जाता है – ऐसी चैतन्यशक्ति का विश्वास जगत् को नहीं आता है। चैतन्य शक्ति को पहचानकर उसके साँचे में जितनी पुरुषार्थ की एकाग्रतारूप कीमत डालें, उतनी निर्मलदशा अन्दर की शक्ति में से प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

'एक अणुबम गिरता है तो सम्पूर्ण नगर का नाश कर देता है' – इस प्रकार जगत् के जीव अणुबम की शक्ति का विश्वास और महिमा करते हैं किन्तु आत्मा के श्रद्धारूपी अणुबम में ऐसी सामर्थ्य है कि वह अनन्त कर्मों को एक क्षण में भस्म कर देता है; उसका विश्वास और महिमा आना चाहिए। पहले अन्तर में आत्मा की जिज्ञासा और मन्थन जागृत होना चाहिए। अन्तर के चैतन्यतत्त्व को शोधन के लिये उसका अनुभव करना चाहिए, उसका साक्षात्कार करने के लिये और उसके ध्यान में स्थिर होने के लिये जिसे रात और दिन; स्वप्न अथवा जागृतदशा में; हिलते-चलते सदा रटन चलती है, उसका जीवन धन्य है।

जिस प्रकार माता से पृथक् पड़े हुए बालक को 'मेरी माँ... मेरी माँ...' इस प्रकार अपनी माता की ही रटन रहा करती है। कोई उससे पूछे कि तेरा नाम क्या है? तो वह कहेगा 'मेरी माँ।' कोई उससे खाने के लिये पूछे तो कहेगा 'मेरी माँ', इस प्रकार वह माता की ही रटन करता है; इसी प्रकार जिन भव्य जीवों को अन्तर में आत्मा की दरकार जगती है, आत्मा की ही रटन और आत्मा की ही चिन्ता जो प्रगट करते हैं, जो आत्मा के अतिरिक्त अन्य की रुचि अन्तरङ्ग में नहीं होने देते, उनका जीवन धन्य है।



अहो! मेरा आत्मा पूर्ण चिदानन्दस्वरूप है। जब तक उसका भान और प्राप्ति न हो, तब तक यथार्थ शान्ति अथवा सुख प्राप्त नहीं हो सकता है। अभी तक का अनन्त काल आत्मभान के बिना भ्रान्ति में गँवाया है, अब एक क्षण भी गँवाना नहीं है। इस प्रकार आत्मा की चिन्तावाला जीव अन्य किसी की रुचि नहीं करता।

अहो! जो इस चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके, ध्यान में उसे ध्याता है, उसकी महिमा की क्या बात करना! उसने तो कार्य प्रगट कर लिया है; इसलिए वह तो कृतकृत्य है ही, परन्तु जिसने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है अर्थात् जिसे यह चिन्ता प्रगट हुई है कि अहो! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो? मुझे अन्दर से आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव कैसे प्रगट हो? उस आत्मा का जीवन भी धन्य है, संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है – ऐसा सन्त-आचार्य कहते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने जगत् में पैसा, स्त्री, शरीर इत्यादि की चिन्ता में अभिवृद्धि की है, उसका जीवन हम प्रशंसनीय नहीं कहते हैं परन्तु जिसने अन्य परिग्रह की चिन्ता छोड़कर चैतन्य की चिन्ता का ही परिग्रह किया है, उसका जीवन शान्ति और समाधि प्रदान करने के कारणरूप है, मनोहर है, रमणीय है, प्रशंसा योग्य है; देह छूटने के काल में उसे अन्तर में आत्मा की शान्ति और समाधि प्रगट होगी; इसलिए उसका जीवन धन्य है। बड़े-बड़े देव भी आकर ऐसे भव्य जीवों की सेवा और आदर करते हैं।

यह मनुष्यभव प्राप्त करके करोड़ों रुपये कमाना अथवा मान प्रतिष्ठा इत्यादि प्राप्त करने में जीवन व्यतीत करने को यहाँ धन्य नहीं कहते हैं, अपितु जो अन्तरङ्ग में चैतन्य की भावना करता है, उसका जीवन धन्य है – ऐसा कहते हैं।

मैं इस जड़ शरीर से भिन्न हूँ। अहो! मेरे आत्मा का क्या होगा? यह जड़ शरीर तो यहीं पड़ा रहेगा और मैं तो अकेला चला जाऊँगा। जब यह शरीर ही मेरे साथ स्थायी रहनेवाला नहीं है, तब फिर अन्य स्त्री, परिवार, लक्ष्मी इत्यादि की तो बात ही क्या है? अरे! विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा आत्मा नित्य शुद्ध चिदानन्द है। सिद्ध भगवान जितना परिपूर्ण सामर्थ्य मुझमें भरा है, उसे मैं पहचानूँ; इस प्रकार जिसे चौबीस घण्टे अन्तरङ्ग में रटन चलती है – ऐसे धर्म की चिन्तावाले धर्मात्माओं को धन्य है! ऐसी पवित्रतावाले जीवों का पुण्यवन्त देव भी आदर करते हैं।

आत्मस्वभाव के लक्ष्यवाला जीवन ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरा जीवन आदरणीय नहीं गिना गया है; इसलिए भव्यात्माओं को बारम्बार शुद्धात्मा की चिन्ता में और उसी के रटन में रहना चाहिए – ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है।

शरीर, पैसा, परिवार अथवा देश इत्यादि का जो होना हो, वह होगा; उन्हें संयोगरूप रहना होगा तो रहेंगे, जाना होगा जाएँगे; मेरे आत्मा से तो वह सब भिन्न हैं। मैं नित्य रहनेवाला चैतन्यबिम्ब हूँ, उसे पहचानकर उसमें स्थिर रहूँ – यही मेरा कर्तव्य है। जिसे आत्मा की ऐसी रुचि और छटपटाहट प्रगट हुई है, उसे वह नित्य शान्ति और आनन्द प्रदाता है। उसका जीवन धन्य है। भाई! करने योग्य हो तो यह एक ही कार्य है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, ( भाग-2 ) पद्मनन्दिपञ्चविंशति एकत्वसप्तती अधिकार, गाथा 65 के प्रवचन से, पृष्ठ 65-69 ]*

# 5. मोक्षार्थी को मुक्ति का उल्लास

श्री परमात्मप्रकाश ग्रन्थ में पशु का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि यदि मोक्ष में उत्तम सुख नहीं होता, तो पशु भी बन्धन से छूटने की इच्छा क्यों करता? देखो, बन्धन में बँधे हुए बछड़े को पानी पिलाने के लिए बन्धन से मुक्त करते हैं तो वह छूटने के हर्ष में नाचने लगता है। तब अरे जीव! तू अनादि काल से अज्ञानभाव से इस संसार बन्धन में बँधा हुआ है और अब तुझे इस मनुष्यभव में सत्समागम से इस संसार बन्धन से मुक्त होने का अवसर आया है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हम संसार से छूटकर मुक्ति प्राप्ति की बात सुनाएँगे... और यदि वह वार्ता सुनने पर तुझे संसार से छूटने का उत्साह न आवे तो तू उस बछड़े से भी गया-बीता है।

बन्धन से छूटकर खुली हवा में घूमने और पानी पीने का अवसर प्राप्त होने पर बछड़े को भी कैसा उत्साह आता है? तब जिसे समझने से अनादि का संसार-बन्धन छूटकर मुक्ति के परम आनन्द की प्राप्ति हो – ऐसे चैतन्यस्वभाव की बात ज्ञानी के द्वारा सुनने पर, किस आत्मार्थी जीव को अन्दर में हौंस और उत्साह नहीं आएगा? और जिसे अन्दर में सच समझने का उत्साह है, उसे अल्प काल में मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी।

पहले तो जीव को संसार परिभ्रमण करते हुए, मनुष्यभव और सत् का श्रवण प्राप्त होना ही महाकठिन है और कदाचित् सत् का श्रवण प्राप्त हो, तब भी जीव ने उसे अन्तर में नहीं बैठाया; इसलिए संसार में ही परिभ्रमण किया। भाई! यह सब तुझे शोभा नहीं देता... ऐसे महामूल्यवान अवसर में भी तू आत्मस्वभाव को नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा और यह समझे बिना तेरे भ्रमण का अन्त कैसे आएगा? इसलिए अन्दर से उल्लास लाकर सत्समागम में आत्मा की सच्ची समझ कर ले।

यह आत्मा, ज्ञानस्वभावी है परन्तु इसने अनादि काल से एक सैकेण्डमात्र भी अपने स्वभाव को लक्ष्य में नहीं लिया; इसलिए उस स्वभाव की समझ भी कठिन लगती है और शरीर आदि बाह्य क्रियाओं में धर्म मानकर, व्यर्थ ही मनुष्यभव गँवा देता है। यदि आत्मस्वभाव का रुचि से अभ्यास करे तो स्वभाव की समझ सहज है; स्वभाव की बात कठिन नहीं होती। प्रत्येक आत्मा में समझने की सामर्थ्य है... परन्तु अपनी मुक्ति की बात सुनकर अन्दर से उल्लास आना चाहिए, तभी यह बात शीघ्र समझ में आ सकती है।

जिस प्रकार जब बैल को घर से छुड़ाकर खेत में काम करने के लिये ले जाते हैं, तब तो वह धीमे-धीमे जाता है और समय भी बहुत लगाता है परन्तु खेत के काम से छूटकर घर की तरफ वापस आता है, तब दौड़ते-दौड़ते आता है... क्योंकि उसे पता है कि अब कार्य के बन्धन से छूटकर घर पर चार पहर तक शान्ति से घास चरना है; इसलिए उसे उत्साह आता है और उसकी गति में वेग / तीव्रता आती है।



देखो, बैल जैसे प्राणी को भी छूटकारे का उत्साह आता है; इसी प्रकार आत्मा अनादि काल से स्वभावघर से छूटकर संसार में बैल की तरह परिभ्रमण कर रहा है... श्रीगुरु उसे स्वभावघर में आने की बात सुनाते हैं। यदि अपनी मुक्ति की बात सुनकर भी जीव को उत्साह नहीं आवे तो वह उस बैल से भी गया-बीता है। अरे! पात्र जीव को तो अपने स्वभाव की बात सुनते ही अन्दर से मुक्ति का उल्लास आता है और उसका परिणमन वेगपूर्वक स्वभाव-सन्मुख ढल जाता है।

भाई! तूने जितने काल संसार में परिभ्रमण किया है, उतना काल मोक्ष का उपाय करने में नहीं लगता, क्योंकि विकार की तुलना में स्वभाव का वीर्य अनन्तगुणा है; इसलिए वह अल्प काल में ही मोक्ष को साध लेता है... परन्तु इसके लिए जीव को अन्दर में यथार्थ उल्लास आना चाहिए। •

*( सम्यग्दर्शन पुस्तक, भाग-2, पृष्ठ 91-94 )*

## मुनिराज : प्रचुर समाधिसुख के प्रति उत्सुक

मुनिराज समाधिपरिणत तो हैं परन्तु सनातन शुद्ध निज ज्ञायकद्रव्य सामान्य का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्राप्त करने के लिये वे अति आतुर हैं। जैसे, पाँच लाख रुपये का स्वामी, पच्चीस लाख कमाने की भावना करता है; इसी प्रकार मुनिराज, निज ज्ञायक के उग्र अवलम्बन से प्रचुर समाधिसुख प्रगट करने के लिये अति उत्सुक हैं।

*( वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 204 )*

# 6. महादुर्लभ मानव जीवन

हे जीव! महापुण्ययोग से तूने यह मनुष्य अवतार प्राप्त किया है... संसार के दूसरे अवतारों की अपेक्षा यह मनुष्य अवतार उत्तम माना गया है... ऐसे मूल्यवान् मानव जीवन में क्या करने योग्य है? किस उपाय से सच्चे सुख की प्राप्ति होती है? जिज्ञासु को किस प्रकार का तत्त्वविचार करना चाहिए? - इन सबका सुन्दर विवेचन यहाँ एकदम सरल शैली में किया गया है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी को मात्र सात वर्ष की उम्र में पूर्व भवों का ज्ञान हुआ था। उनके ज्ञान का क्षयोपशम बहुत था, सोलह वर्ष की अल्प आयु में मात्र तीन दिन में उन्होंने मोक्षमाला के 108 पाठों की रचना की है। उसमें चौथे पाठ में मानवदेह की दुर्लभता और उत्तमता किस प्रकार है ? – यह बात समझायी गयी है।

*'तुमने सुना तो होगा कि विद्वान् मानवदेह को दूसरी सभी देहों की अपेक्षा उत्तम कहते हैं परन्तु उत्तम कहने का कारण तुम नहीं जानते होंगे; इसलिए मैं उसे कहता हूँ।'* यह मनुष्यदेह अनन्त काल में प्राप्त होती है, इसमें धनादिक प्राप्त होना कोई अपूर्व नहीं है और उससे आत्मा की महिमा भी नहीं है। आत्मा, अन्तर में ज्ञान–आनन्द से भरपूर पदार्थ है, उसकी समझ करना ही अपूर्व है



और उसी से मानवदेह की उत्तमता है।

विद्वान्, मानवदेह को अन्य सब देहों से उत्तम कहते हैं परन्तु वह किसलिये उत्तम है, यह यहाँ समझाते हैं। अमूल्य तत्त्व विचार में श्रीमद्जी स्वयं कहते हैं कि –

**बहु पुण्य-पुंज प्रसंग से शुभदेह मानव का मिला।**
**तो भी अरे! भवचक्र का, फेरा न एक कभी टला॥**

यह मानवदेह तो जड़ है परन्तु मानवपने में जीव, सम्यग्दर्शन –ज्ञान–चारित्ररूप पवित्रभाव प्रगट कर सकता है; इसलिए देह को भी उपचार से *'शुभदेह'* कहा जाता है। अनन्त काल में यह मानवदेह प्राप्त हुआ है, यदि इसमें आत्मा की सच्ची समझ प्रगट करे तो इसे उत्तम कहा जाता है; इसके अतिरिक्त लक्ष्मी के ढ़ेर अथवा बड़े अधिकार प्राप्त होने से मानवदेह की उत्तमता ज्ञानियों ने नहीं कही है; इसलिए कहा है कि –

**लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।**
**परिवार और कुटुम्ब है क्या ? वृद्धि नय पर तोलिये॥**
**संसार का बढ़ना अरे! नरदेह की यह हार है।**
**नहिं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥**

बाहर में लक्ष्मी इत्यादि का संयोग बढ़ा, इससे आत्मा में क्या बढ़ा ? – यह तो विचार करो। किसी बाह्य संयोग से आत्मा की महिमा नहीं है। यदि जीव, मानवदेह प्राप्त करके शरीर से भिन्न आत्मा की पहचान नहीं करे तो इस मनुष्यदेह की कोड़ी की भी कीमत नहीं है। यह जीव, आत्मा के भान बिना मात्र बाह्य संयोग की मिठास करके, संसार बढ़ाकर मनुष्यभव हार जाता है।

जो आत्मा की अन्तर की चीज होती है, वह आत्मा से भिन्न नहीं हो सकती। शरीर, पैसा, स्त्री, पुत्र इत्यादि वस्तुएँ आत्मा की नहीं हैं, इसलिए वे वस्तुएँ परभव में आत्मा के साथ नहीं जातीं। लाखों रुपये प्राप्त होने से जीव की महिमा नहीं है और रुपये प्राप्त होने में वर्तमान की चतुराई भी कार्यकारी नहीं है। जीवों को बाह्य संयोग तो पूर्व प्रारब्ध अनुसार प्राप्त होते हैं। कहीं भगवान किसी को सुखी-दुःखी नहीं करते तथा संयोग का भी सुख-दुःख नहीं है। जीव स्वयं अपनी भूल से पराश्रित होकर दुःखी होता है और यदि आत्मा की पहचान करके स्वाश्रयभाव प्रगट करे तो स्वयं से स्वयं का कल्याण होता है।

हे जीव! अनन्त काल में महामूल्यवान् यह मनुष्यदेह और सत्समागम प्राप्त हुआ है; इसलिए अब तू अपने आत्मा की समझ कर। आत्मा की समझ किये बिना तूने अनन्त-अनन्त काल निगोद और चींटी इत्यादि के भव में व्यतीत किया है। अरे! वहाँ तो सत् के श्रवण का अवकाश भी नहीं था। अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके समझ का रास्ता ले। भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा आना चाहिए। पैसा, स्त्री इत्यादि की जो महिमा है, वह मिटकर अन्तर में चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए।

जिस प्रकार हिरण को अपनी नाभि में स्थित सुगन्धित कस्तूरी का विश्वास नहीं आता, इसलिए वह बाह्य में सुगन्ध मानकर परिभ्रमण करता है; इसी प्रकार इस जीव में अपने में ही अपनी प्रभुता भरी है, इसमें ही तीन लोक का नाथ परमात्मा होने की सामर्थ्य विद्यमान है परन्तु पामर को अपनी प्रभुता का विश्वास नहीं आता; इसलिए अपनी प्रभुता की महिमा विस्मृत करके बाह्य



पदार्थों की महिमा करता है। इस कारण पराश्रय से संसार में परिभ्रमण करता है।

देखो, इस मनुष्यदेह में ही मुख्यरूप से आत्मा की समझ करने का अवकाश है। जब तक आत्मतत्त्व की महिमा को नहीं जाना, तब तक व्रत-तप-दान अथवा यात्रा इत्यादि करने से क्या हुआ? आत्मा की पहचान बिना मनुष्यदेह की अथवा व्रतादि की परमार्थमार्ग में कुछ गिनती नहीं है। आत्मा की पहचान के कारण ही मनुष्यदेह की उत्तमता कही गयी है।

*‘यह संसार बहुत दुःख से भरा हुआ है। ज्ञानी इसमें से तरकर पार होने का प्रयत्न करते हैं। मोक्ष को साधकर वे अनन्त सुख में विराजमान होते हैं। यह मोक्ष दूसरी किसी देह से मिलनेवाला नहीं है। देव, तिर्यञ्च या नरक, इनमें से एक भी गति से मोक्ष नहीं है; मात्र मानवदेह से मोक्ष है।’*

यह संसार महादुःख से भरपूर है। अज्ञानभाव के कारण जीव चार गतियों में परिभ्रमण करता है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक - यह चार गतियाँ हैं। उनमें मनुष्यदेह अनन्त काल में प्राप्त होती है और मनुष्यदेह में भी सत्समागम की प्राप्ति तो महा-दुर्लभ है। मनुष्यभव प्राप्त करके भी जीव ने अपने आत्मा की दरकार नहीं की है और बाहर में देह, परिवार इत्यादि पर की वार्ता में रुककर मानव जीवन व्यर्थ गँवा दिया है। यह तो ‘घर का बेटा भूखों मरे और पड़ोसी के लिए आटा’ - जैसी बात है। अपने आत्मा को समझने की दरकार नहीं की है और पड़ोसी अर्थात् परवस्तु को जानने में तथा उसका अभिमान करने में रुक गया है।

यह जीव, अपने आत्मा की समझ तो करता नहीं है और मैं पर का भला कर दूँ – ऐसा मानता है। अरे भाई! परवस्तु में आत्मा का अधिकार चलता ही नहीं। शरीर में रोग हो तो उसके अभाव की इच्छा होने पर भी वह नहीं मिटता है और रोग लाने की इच्छा नहीं होने पर भी रोग होता है; इसलिए आत्मा की इच्छा पर में काम नहीं आती। आत्मा पर से भिन्न है; इसलिए आत्मा किसी दूसरे का भला अथवा बुरा नहीं कर सकता, फिर भी पर को अपना मानकर उसकी ममता करता है, इसी कारण जीव दु:खी है।

देखो, श्रीमद् राजचन्द्र सोलह वर्ष की युवा अवस्था में तो संसार का दु:खमय वर्णन करते हैं। यह संसार बहुत दु:ख से भरा है। कोई बड़ा राजा हो या सेठ हो, इससे उसे सुखी नहीं कहा गया है। जिन्हें शरीर से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा का भान नहीं है और पर की ममता करते हैं, वे सभी जीव इस संसार में महादु:खी हैं। राज्य, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा इत्यादि होने पर भी पर की ममता के कारण यह जीव दु:खी ही है। रोग अथवा निर्धनता का दु:ख जीव को नहीं है परन्तु अन्तर में अपना आत्मा सुख से भरपूर है, उसकी महिमा नहीं करके, पर की महिमा करके ममता करता है; इसीलिए दु:ख है। तात्पर्य यह है कि जीव का ममत्वभाव ही संसार है और ममत्वभाव का ही दु:ख है। परवस्तु में सुख अथवा दु:ख नहीं है। जीव परभव में जाए, तब शरीर आदि परवस्तुएँ तो यहीं पड़ी रह जाती हैं, वे जीव के साथ नहीं जातीं; जीव अपने ममत्वभाव को साथ लेकर जाता है। वह ममत्वभाव ही संसार है।

ज्ञानी-सन्त आत्मा को पहचानकर इस दु:खमय संसार से तिरकर पार होने का प्रयोजन साधते हैं और मोक्षदशा प्रगट करते



हैं। आत्मा का परिपूर्ण सुख मोक्षदशा में प्रगट होता है। आत्मा के स्वभाव में सुख भरा है, उसे पहचानकर, उसमें एकाग्र होने से मोक्षदशा में वह सुख परिपूर्ण प्रगट होता है। जिस प्रकार चने में स्वाद भरा है, इसलिए उसे सेकने से वह स्वाद आता है और फिर उसे बोने पर वह उगता नहीं है; इसी प्रकार चैतन्यबिम्ब आत्मा में सुखस्वभाव भरा है, उसकी श्रद्धा और एकाग्रता के बल से मोक्षदशा में वह सुख प्रगट होता है और फिर उस आत्मा का अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होता। ऐसी मोक्षदशा प्रगट होने का अवसर इस मनुष्यपने में ही है।

पहले तो मनुष्यदेह में सत्समागमपूर्वक आत्मा की रुचि से आत्मा की पहिचान करे कि मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, ज्ञान-आनन्द से भरपूर हूँ; विकारभाव होते हैं, वह दु:ख है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; किसी भी संयोग से मुझे सुख-दु:ख नहीं है। इस प्रकार भान करके फिर आत्मा में स्थिरता करने से राग-द्वेष का अभाव होकर मोक्षदशा का सुख प्रगट होता है। मोक्ष होने की योग्यता इस आत्मा में ही भरी है। शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा है। '**अप्पा सो परमप्पा**' अर्थात् आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। उसका भान करके आत्मा स्वयं ही प्रगटरूप परमात्मा हो जाता है। यह सब इस मनुष्यभव में ही हो सकता है और इसीलिए ज्ञानियों ने मानवदेह को उत्तम कहा है।

प्रत्येक आत्मा, परमात्मा के समान सच्चिदानन्द की मूर्ति है। बाहर के देह में अन्तर है तथा वर्तमान अवस्था में अन्तर है परन्तु स्वभाव से तो सभी आत्माएँ प्रभु हैं। अपूर्णता कोई आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जिस प्रकार स्वर्ण के सौ टुकड़ों पर

अलग-अलग प्रकार के वस्त्र लपेटे हों, परन्तु अन्दर सोना तो सबमें एक समान ही है; इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा भिन्न-भिन्न चैतन्यधातु का पिण्ड है, बाह्य में छोटा-बड़ा शरीर और वर्तमान क्षणिक अवस्था में अपूर्णता है, उसे लक्ष्य में नहीं लेकर त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है। सिद्ध परमात्मा में जितनी सामर्थ्य है, उतनी ही सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में है परन्तु अज्ञानी जीव उसे भूलकर शरीर और विकारभाव जितना ही अपने को मानता है; इसलिए संसार में परिभ्रमण करता है। ज्ञानीजन तो अपने परिपूर्ण आत्मस्वभाव की पहचान करके उसके आश्रय से मोक्ष प्राप्त करने का साधन करते हैं और संसार का पार पा जाते हैं।

आत्मा की पहचान करके मोक्ष प्राप्ति का साधन इस मनुष्यदेह में ही है, इसके अतिरिक्त दूसरी गति में आत्मा का भान हो सकता है परन्तु मोक्षदशा का पूर्ण साधन नहीं हो सकता। पुण्य करे तो स्वर्ग में जाए और पाप करे तो नरक में जाए तथा माया-कपट के भाव करे तो तिर्यञ्च में जाए; वहाँ कोई-कोई जीव, आत्मा का भान प्रगट करते हैं परन्तु मोक्षदशा प्राप्त होने योग्य पूर्ण पुरुषार्थ वहाँ नहीं हो सकता। यद्यपि शरीर के कारण मोक्षदशा नहीं रुकती, परन्तु वहाँ जीव की अपनी योग्यता ही उस प्रकार की होती है।

मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही है। उसका परिपूर्ण प्रयत्न इस मनुष्यभव में ही होता है; इसलिए मोक्षदशा की प्राप्ति इस मनुष्यभव में ही होती है। ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त करके भी मतिहीन अज्ञानी जीव, उसे विषय-भोगों में व्यर्थ गँवा देता है। इस सम्बन्ध में पण्डित श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि -



**'ज्यों मतिहीन विवेक बिना नर, साज मतंगज ईंधन ढोवें,**
**कंचन भाजन धूल भरे शठ, मूढ सुधारस सौं पग धोवे।**
**वादिन काग उड़ावन कारण, डार महामणि मूरख रोवे,**
**त्यों ये दुर्लभ देह बनारसी, पाय अजान अकारथ खोवे।'**

जिस प्रकार कोई मतिहीन और विवेकरहित मनुष्य, हाथी को विविध अलङ्कारों से शृङ्गार कराकर, उससे लकड़ियाँ उठवाता है तथा मूर्ख मनुष्य, सोने के थाल में धूल भरता है और मूढ़ जीव सुधारस को पीने के बदले, उससे पैर धोता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव यह दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके व्यर्थ गँवाता है।

किसी मनुष्य पर राजा प्रसन्न हो गया और उसने एक सोने के आभूषण से शृङ्गारित हाथी पुरस्कार में दे दिया, परन्तु उस मूर्ख जीव ने तो हाथी का उपयोग लकड़ियों के गठ्ठर उठाने में किया। वह स्वयं हाथी पर तो नहीं बैठता, किन्तु उससे गठ्ठर उठवाता है। इसी प्रकार मूढ़ अज्ञानी जीव भी यह दुर्लभ मनुष्यदेह पाकर आत्मार्थ साधने के बदले उसे व्यर्थ खोता है। उत्तम मानवभव प्राप्त करके, मूढ़ जीव अपने आत्महित का साधन नहीं करते और मैं पर का कल्याण कर दूँ - ऐसा व्यर्थ अभिमान करके मनुष्यभव हार जाते हैं।

मनुष्यपना प्राप्त करके बहुत धन संग्रहित हो, उससे कहीं आत्मा की महिमा नहीं बढ़ जाती और निर्धनपना होने से आत्मा की महिमा घट नहीं जाती। जिस प्रकार निर्धन और धनवान के जन्म और मरण का एक ही मार्ग है; इसी प्रकार धर्म का और मोक्ष का मार्ग भी समस्त जीवों के लिए एक ही प्रकार का है। धनवान को धर्म हो और निर्धन को नहीं हो - ऐसा नहीं है, क्योंकि सधनता और

निर्धनता से धर्म नहीं होता, अपितु आत्मा का भान करने से धर्म होता है। निर्धन हो या धनवान, जो आत्मा का भान करता है, उसे ही धर्म होता है। देखो, मात्र मानवदेह से ही मोक्ष होता है, इस कारण इस मानवदेह को उत्तम कहा है।

*'अब तुम पूछोगे कि सभी मानवों का मोक्ष क्यों नहीं होता? इसका उत्तर भी मैं कह दूँ। जो मानवता को समझते हैं, वे संसार सागर से पार हो जाते हैं। जिनमें विवेकबुद्धि का उदय हुआ हो, उनमें विद्वान् मानवता मानते हैं। उससे सत्यासत्य का निर्णय समझकर परम तत्त्व, उत्तम आचार और सद्धर्म का सेवन करके, वे अनुपम मोक्ष को पाते हैं।'*

मोक्ष का साधन इस मानवभव में ही होता है परन्तु सभी मानवों को मोक्ष नहीं हो जाता। मनुष्यपने में भी जो विवेकबुद्धि अर्थात् स्व-पर का यथार्थ ज्ञान प्रगट करके आत्मा को समझते हैं, उन्हें ही मोक्ष होता है। जो सत्य और असत्य का निर्णय करके, परमतत्त्व को अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव को समझते हैं तथा राग-द्वेषरहित आत्मा के निर्दोष स्वभाव में एकाग्रतारूप उत्तम आचरण का पालन करते हैं, वे ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

*'मनुष्य के शरीर के देखाव से विद्वान् उसे मनुष्य नहीं कहते, परन्तु उसके विवेक के कारण उसे मनुष्य कहते हैं।'*

आत्मा का निर्दोष स्वभाव क्या है और विकार क्या है? इसका विवेक करनेवाला ही वास्तव में मनुष्य है परन्तु हाथ-पैर इत्यादि की आकृति से वास्तव में ज्ञानी, मनुष्यपना नहीं कहते। जिसे स्व-पर का विवेक नहीं है - ऐसे मानवपन को ज्ञानी उत्तम नहीं



कहते। जिसने स्व-पर का विवेक प्रगट किया है, वही वास्तव में मनुष्य है और उसे ही ज्ञानीजन उत्तम कहते हैं। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है तथा मुझसे भिन्न पदार्थ क्या हैं? इसका जिसे विवेक नहीं है, उसे धर्म नहीं होता है।

अन्तर में स्व-पर का विवेक प्रगट किये बिना, मात्र दो हाथ, दो पैर, मुँह इत्यादि आकृति से ही मनुष्यपना नहीं समझना, क्योंकि यदि ऐसा मानोगे तो बन्दर को भी यह सब है; इसलिए उसे भी मनुष्य कहना पड़ेगा।

*'जिसके दो हाथ, दो पैर, दो आँखें, दो कान, एक मुख, दो होंठ और एक नाक हों उसे मनुष्य कहना - ऐसा हमें नहीं समझना चाहिए। यदि ऐसा समझें तो फिर बन्दर को भी मनुष्य मानना चाहिए क्योंकि उसने भी तदनुसार सब प्राप्त किया है; विशेषरूप से उसके एक पूँछ भी है। तब क्या उसे महामानव कहें? नहीं, जो मानवता समझे, वही मानव कहलाता है।'*

देह से भिन्न आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर अन्तर में विवेक प्रगट करनेवाला ही मानव है। अमूल्य तत्त्वविचार में ही 'विवेक' सम्बन्धी पद श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है -

**मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?**
**सम्बन्ध दुखमय कौन हैं? स्वीकृत करूँ परिहार क्या॥**
**इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिए।**
**तो सर्व आत्मिकज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥**

मैं यह देह नहीं, किन्तु आत्मा हूँ। मैं नया नहीं हुआ हूँ; मैं तो अनादि का हूँ। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, रागादिभाव मेरा वास्तविक स्वरूप

नहीं है। देहादि परवस्तुओं के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अन्तर में आत्मा का विचार और विवेक प्रगट करनेवाला, वह जीव आत्मिकज्ञान के सर्व तत्त्वों का अनुभव करता है।

*'ज्ञानी कहते हैं कि यह भव बहुत दुर्लभ है, अति पुण्य के प्रभाव से यह देह मिलती है; इसलिए इससे शीघ्र आत्मसार्थकता कर लेनी चाहिए।.....गजसुकुमार जैसे छोटे बालक भी मानवता को समझने से मोक्ष को प्राप्त हुए। मनुष्य में जो शक्ति विशेष है, उस शक्ति से वह मदोन्मत्त हाथी जैसे प्राणी को भी वश में कर लेता है; इसी शक्ति से यदि वह अपने मनरूपी हाथी को वश में कर ले तो कितना कल्याण हो!'*

जगत् में एकेन्द्रिय तथा चींटी इत्यादि की संख्या बहुत है और नारकी व देवों की संख्या भी बहुत है परन्तु मनुष्य बहुत कम हैं। मनुष्यदेह प्राप्त होना महाकठिन है; इसलिए ऐसी दुर्लभ मनुष्यदेह प्राप्त करके शीघ्र आत्मकल्याण कर लेना चाहिए। शरीर से भिन्न ज्ञानमूर्ति आत्मा का भान कर लेने में ही मानव जीवन की सार्थकता है। श्रीमद् राजचन्द्र ने स्वयं छोटी उम्र में यह रचना की है और इसमें वैराग्य के दृष्टान्त भी छोटी उम्र के राजकुमारों के दिये हैं। गजसुकुमार आदि राजकुमार छोटी उम्र में आत्मभान करके, संसार से वैराग्य प्राप्त करके मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं।

*'किसी भी अन्य देह में पूर्ण सद्विवेक का उदय नहीं होता और मोक्ष के राजमार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता; इसलिए हमें मिली हुई दुर्लभ मानवदेह को सफल कर लेना आवश्यक है।'* अन्य तीन गतियों में सम्यग्ज्ञान हो सकता है परन्तु पूर्ण सद्विवेक अर्थात् केवलज्ञान तो मनुष्यपने में ही होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र,



वह मोक्ष का राजमार्ग है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और वह चारों गतियों में होता है परन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक सम्यक्चारित्र मोक्ष का राजमार्ग है अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग है और वह इस मनुष्यभव में ही होता है - ऐसा दुर्लभ मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ है; इसलिए जैसे बने वैसे, शीघ्रता से आत्मा की पहचान करके वीतरागमार्ग में सावधान होना चाहिए।

*'...बहुत से मूर्ख दुराचार में, अज्ञान में, विषय में और अनेक प्रकार के मद में, मिली हुई मानवदेह को वृथा गँवा देते हैं। अमूल्य कौस्तुभ खो बैठते हैं। ये नाम के मानव गिने जा सकते हैं, बाकी तो वे वानररूप ही हैं।'*

यह अमूल्य चिन्तामणि जैसी मनुष्यदेह प्राप्त करके, आत्मार्थ साधने के बदले कितने ही मूर्ख जीव, विषय-कषाय में जीवन गँवा देते हैं तथा कितने ही जीव आत्मा को समझे बिना क्रियाकाण्ड में रूककर अज्ञान ही अज्ञान में मनुष्यभव हार जाते हैं। यदि आत्मा का भान नहीं करे तो बन्दर के जीवन में और मनुष्य के जीवन में यहाँ कोई अन्तर नहीं माना गया है; इसलिए जैसे बने वैसे शीघ्र सत्समागम से आत्मा की पहचान करना और इस मनुष्यभव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का सेवन करना आवश्यक है। यही आत्महित का उपाय है। ● *[ सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 95-104 ]*

***[ श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत मोक्षमाला के पाठ - 4 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन ]***

# 7. सम्यग्दर्शन का सुनहरा अवसर

अहा! उल्लासपूर्वक जिस उपाय का श्रवण करने से मोहबन्धन शिथिल पड़ जाता है... और जिसका गहन अन्तर्मन्थन करने से क्षणमात्र में मोह का क्षय हो जाता है – ऐसा मोहक्षय का अमोघ उपाय सन्तों ने दर्शाया है। जगत् में अत्यन्त विरल और महादुर्लभ सम्यक्त्व प्राप्ति का मार्ग इस काल में सन्तों के प्रताप से सुगम बना है... यह वास्तव में मुमुक्षु जीवों का कोई महान् सद्भाग्य है। ऐसा अलभ्य अवसर प्राप्त करके, सन्तों की छाया में अन्य सब भूलकर अपने को, अपने आत्महित के प्रयत्न में कटिबद्ध होना चाहिए।

स्वभाव की सन्मुखतापूर्वक स्वरूप में लीन होकर, मोह का क्षय करके जो सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा हुए, उनके द्वारा उपदिष्ट मोह के क्षय का उपाय क्या है? वह यहाँ आचार्यदेव बताते हैं। उन्होंने प्रवचनसार गाथा 80 में यह बताया कि भगवान अरहन्तदेव का आत्मा, द्रव्य–गुण–पर्याय तीनों से शुद्ध है। उनके शुद्ध द्रव्य–गुण–पर्याय को पहचानकर, अपनी आत्मा के साथ उनका मिलान करने से, ज्ञान और राग का भेदज्ञान होकर, स्वभाव और परभाव की भिन्नता होकर, ज्ञान का उपयोग अन्तर–स्वभावसन्मुख होता है। वहाँ एकाग्र होने पर गुण–पर्याय के भेद



का आश्रय भी छूट जाता है और गुणभेद का विकल्प भी छूटकर पर्याय, शुद्धात्मा में अन्तर्लीन होती है। पर्याय अन्तर्लीन होने से मोह का क्षय होता है।

इस प्रकार भगवान अरहन्त के ज्ञान द्वारा, मोह के क्षय का उपाय बतलाया। अब, इसी बात को दूसरे प्रकार से बतलाते हैं, उसमें शास्त्र के ज्ञान द्वारा मोह के अभाव की विधि बतलाते हैं। प्रथम तो जिसने प्रथम भूमिका में गमन किया है – ऐसे जीव की बात है। सर्वज्ञ भगवान कैसे होते हैं? मेरा आत्मा कैसा है? मुझे आत्मा का स्वरूप समझकर अपना हित करना है – जिसे ऐसा लक्ष्य होता है, वह जीव, मोह के नाश के लिए शास्त्र का अभ्यास किस प्रकार करता है? – वह यहाँ बतलाते हैं। वह जीव, सर्वज्ञोपज्ञ द्रव्यश्रुत को प्राप्त करके अर्थात् भगवान द्वारा कथित सच्चे आगम कैसे होते हैं? यह निर्णय करके, फिर उसी में क्रीड़ा करता है अर्थात् आगम में भगवान ने क्या कहा है? इस बात का निर्णय करने के लिए सतत् अन्तर–मन्थन करता है। द्रव्यश्रुत का वाच्यरूप शुद्धात्मा कैसा है? – इसका चिन्तन–मनन करना ही द्रव्यश्रुत में क्रीड़ा है।

द्रव्यश्रुत के रहस्य के गहन विचार में उतरने पर मुमुक्षु को यह लगता है कि अहा! इसमें ऐसी गम्भीरता है। **राजा पैर धोता हो, तब जो आनन्द आता है, हर्ष का अनुभव होहता है,** उससे भी श्रुत के गहन रहस्यों के समाधान होने पर आनेवाला आनन्द तो जगत् से अलग जाति का है। श्रुत के रहस्यों के चिन्तन का रस बढ़ने पर जगत् के विषयों का रस उड़ जाता है। अहो! श्रुतज्ञान के अर्थ के चिन्तन द्वारा मोहग्रन्थी टूट जाती है।

जहाँ श्रुत का रहस्य ख्याल में आया कि अहो! यह तो चिदानन्दस्वभाव में सन्मुखता कराता है। वाह! भगवान की वाणी! वाह दिगम्बर सन्त! वे तो मानो ऊपर से सिद्ध भगवान उतरे हों। अहा! भावलिङ्गी दिगम्बर सन्त-मुनि तो अपने परमेश्वर हैं, वे तो भगवान हैं। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, पूज्यपादस्वामी, धरसेनस्वामी, वीरसेनस्वामी, जिनसेनस्वामी, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, समन्तभद्रस्वामी, अमृतचन्द्रस्वामी, पद्मप्रभमलधारिदेव, अकलङ्कस्वामी, विद्यानन्दिस्वामी, उमास्वामी, कार्तिकेयस्वामी - इन सभी सन्तों ने अलौकिक काम किया है।

अहा! सर्वज्ञ की वाणी और सन्तों की वाणी, चैतन्यशक्ति के रहस्य खोलकर आत्मस्वभाव की सन्मुखता कराती है - ऐसी वाणी को पहचान कर उसमें क्रीड़ा करने से, उसका चिन्तन-मनन करने से ज्ञान के विशिष्ट संस्कार द्वारा आनन्द का प्रस्फुटन होता है, आनन्द का फब्बारा फुटता है, आनन्द का झरना झरता है। देखो, यह श्रुतज्ञान की क्रीड़ा का लोकोत्तर आनन्द! अभी जिसे श्रुत का भी निर्णय न हो, वह किसमें क्रीड़ा करेगा? यहाँ तो जिसने प्राथमिक भूमिका में गमन किया है अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं, उसकी कुछ पहचान की है, वह जीव किस प्रकार आगे बढ़कर मोह का क्षय करता है और सम्यक्त्व प्रगट करता है, उसकी बात है।

भगवान ने द्रव्यश्रुत में ऐसी बात की है कि जिसके अभ्यास से आनन्द का फब्बारा फूटे। भगवान आत्मा में आनन्द का सरोवर भरा है, उसकी सन्मुखता के अभ्यास से एकाग्रता द्वारा आनन्द का फब्बारा फूटता है। चैतन्य-सरोवर में से अनुभूति में आनन्द का झरना बहता है।



आचार्यदेव ने कहा है कि हे भव्य! तू हमारे निज-वैभव के स्वानुभव की इस बात को अपने स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करना। एकत्वस्वभाव का अभ्यास करने से अन्तर में स्व-सन्मुख स्व-संवेदन जागृत हुआ, तब वह जीव, द्रव्यश्रुत के रहस्य को प्राप्त हुआ। जहाँ ऐसा रहस्य प्राप्त हुआ, वहाँ अन्तर की अनुभूति में आनन्द के झरने, झरने लगे... शास्त्र के अभ्यास से, उसके संस्कार से, विशिष्ट स्व-संवेदन शक्तिरूप सम्पदा प्रगट करके, आनन्द के फुब्बारेसहित प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से यथार्थ वस्तुस्वरूप जानने पर मोह का क्षय होता है। अहो! मोह के नाश का अमोघ उपाय कभी निष्फल नहीं जाता - ऐसा अफर उपाय सन्तों ने प्रसिद्ध किया है।

विकल्परहित ज्ञान का वेदन कैसा है? उसका अन्तर्लक्ष्य करना, वह भावश्रुत का लक्ष्य है। राग की अपेक्षा छोड़कर, स्व का लक्ष्य करने को भावश्रुत कहते हैं और उस भावश्रुत में आनन्द के फब्बारे हैं। प्रत्यक्षसहित परोक्षप्रमाण हो तो वह भी आत्मा को यथार्थ जानता है। प्रत्यक्ष की अपेक्षारहित अकेला परोक्षज्ञान तो परावलम्बी है; वह आत्मा का यथार्थ संवेदन नहीं कर सकता। आत्मा के सन्मुख झुककर प्रत्यक्ष हुआ ज्ञान और उसके साथ अविरुद्ध ऐसा परोक्षप्रमाण, उससे आत्मा को जानने पर अन्दर से आनन्द का झरना बहता है। यह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का और मोह के नाश का अमोघ उपाय है।

अरहन्त भगवान के आत्मा को जानकर, वैसा ही अपने आत्मा का स्वरूप पहचानने से ज्ञानपर्याय अन्तर्लीन होकर सम्यग्दर्शन होता है और मोह का क्षय होता है... तत्पश्चात् उसी में लीन होने

से पूर्ण शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और सम्पूर्ण मोह का नाश होता है। समस्त तीर्थङ्कर भगवन्त और मुनिवर इसी एक उपाय से मोह का अभाव करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं... और वाणी द्वारा जगत् को भी इस एक ही मार्ग का उपदेश दिया है। यह एक ही मार्ग है; दूसरा मार्ग नहीं है – ऐसा पहले कहा था।

प्रवचनसार की 86 वीं गाथा में कहा है कि सम्यक् प्रकार से श्रुत के अभ्यास से, उसमें क्रीड़ा करने पर उसके संस्कार से विशिष्ट ज्ञान संवेदन की शक्तिरूप सम्प्रदा प्रगट करने से, आनन्द के उद्‌भवसहित भावश्रुतज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानने से, मोह का नाश होता है। इस प्रकार भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ़ परिणाम से द्रव्यश्रुत का सम्यक् अभ्यास, वह मोहक्षय का उपाय है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि पूर्व कथित उपाय और यहाँ कहा गया उपाय अलग-अलग प्रकार के हैं। वस्तुतः वे अलग-अलग दो उपाय नहीं हैं, एक ही प्रकार का उपाय है; उसे मात्र अलग-अलग शैली से समझाया है।

अरहन्तदेव का स्वरूप पहचानने में आगम का अभ्यास आ ही जाता है क्योंकि आगम के बिना अरहन्त का स्वरूप कहाँ से जाना? और सम्यक् द्रव्यश्रुत का अभ्यास करने में भी सर्वज्ञ की पहचान साथ ही आती है क्योंकि आगम के मूल प्रणेता तो सर्वज्ञ अरहन्तदेव हैं, उनकी पहचान के बिना आगम की पहचान नहीं होती।

अब, इस प्रकार अरहन्त की पहचान द्वारा अथवा आगम के सम्यक् अभ्यास द्वारा जब स्व-सन्मुख ज्ञान से आत्मा के स्वरूप का निर्णय करे, तब ही मोह का नाश होता है। इसलिए दोनों शैलियों



में मोह के नाश का मूल उपाय तो यही है कि शुद्धचेतना से व्याप्त ऐसे द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप शुद्ध आत्मा में स्व-सन्मुख होना।

देखो, यहाँ अकेले शास्त्र अभ्यास की बात नहीं की है परन्तु भावश्रुत के अवलम्बन द्वारा दृढ़ किये हुए परिणाम से, सम्यक् प्रकार से अभ्यास करने की बात कही है। भावश्रुत तभी होता है कि जब द्रव्यश्रुत के वाच्यरूप शुद्ध आत्मा की ओर ज्ञान का झुकाव होता है। इस प्रकार के दृढ़ अभ्यास से अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

ऐसे सम्यक्त्व साधक सन्तों को नमस्कार हो! •

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, प्रवचनसार, गाथा 86 के प्रवचन से, पृष्ठ 50-55 ]*

## आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित दशा

अहा! आषाढ़ माह की घनघोर मेघ से भरपूर रात हो, जङ्गल में चारों ओर गहन अन्धकार व्याप्त हो परन्तु मुनिराज को अन्दर आत्मा में आत्मज्ञान में, आत्मानुभूति में प्रकाश व्याप्त हो गया है। अहा! जो चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से अर्थात् उनके उग्र अवलम्बन से मुनिराज को प्रकाश का ज्वार आया है। बाहर में भले ही अन्धकार हो परन्तु अन्दर में उन्हें आत्मज्ञान का अनुपम प्रकाश फैल गया है। *( वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 195 )*

# 8. सत् की प्राप्ति के लिए अर्पणता

आत्मा, प्रिय हुआ कब कहा जाता है; अर्थात्, यह कब कहा जाता है कि आत्मा की कीमत या प्रतिष्ठा हुई ? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा हो गये हैं – ऐसे अरहन्तदेव के प्रति सच्ची प्रीति होनी चाहिए। जो जीव, विषय-कषाय या कुदेवादि के प्रति जो तीव्र राग को दूर करके सच्चे देव-गुरु के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने के लिए मन्दराग भी नहीं कर सकते, वे जीव बिलकुल रागरहित आत्मस्वरूप की श्रद्धा कहाँ से पा सकेंगे ?

जिसमें परम उपकारी वीतरागी देव-गुरु-धर्म के लिए भी राग कम करने की भावना नहीं है, वह अपने आत्मा के लिए राग का बिलकुल अभाव कैसे कर सकेगा ? जिसमें दो पैसे देने की शक्ति नहीं है, वह दो लाख रुपया कहाँ से दे सकेगा ? उसी प्रकार जिसे देव-गुरु की सच्ची प्रीति नहीं है, जो अभी व्यवहार में भी राग कम नहीं कर सकता, वह निश्चय में यह कैसे और कहाँ से ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप नहीं है।'

जिसे देव-गुरु की सच्ची श्रद्धा-भक्ति नहीं है, उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोई भी सच्चा नहीं है; उसे मात्र अकेले मूढ़भाव की पुष्टि होती है अर्थात् वह तो केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट करता है।

प्राथमिकदशा में देव-गुरु-धर्म की भक्ति का शुभराग जागृत



होता है और उसी के आवेश में भक्त सोचता है कि मैं देव-गुरु -धर्म के लिये तृष्णा कम करके अर्पित हो जाऊँ, उनके लिये अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूँ तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने में आये बिना, देव-गुरु-धर्म के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती और देव-गुरु-धर्म की प्रीति के बिना आत्मा की पहचान नहीं हो सकती। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और अर्पणता आये बिना, तीन लोक और त्रिकाल में भी आत्मा में प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मा में निज के लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार गुरु चरणों में अर्पित हो जा! पश्चात् गुरु ही तुझे अपने में समा जाने की आज्ञा देंगे। एक बार तो तू सत् की शरण में झुक जा और यही स्वीकार कर कि उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना! तुझमें सत् की अर्पणता आने के बाद सन्त कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी आवश्यकता नहीं है; तू स्वयं ही अपनी ओर देख – यही आज्ञा है और यही धर्म है।

एक बार सत्-चरण में समर्पित हो जा। सच्चे देव-गुरु के प्रति समर्पित हुए बिना आत्मा का उद्धार नहीं हो सकता, किन्तु यदि उसी का आश्रय मानकर बैठ जाए तो भी पराश्रय होने के कारण आत्मा का उद्धार नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थ स्वरूप में तो भगवान आत्मा अकेला ही है परन्तु जब तक वह परमार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता, तब तक पहले देव-गुरु-शास्त्र को स्वरूप के आँगन में विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव -गुरु-शास्त्र की भक्ति-पूजा के बिना, केवल निश्चय की बातें करनेवाला शुष्कज्ञानी है।

भाई! देव-गुरु-धर्म को तो तेरी भक्ति की आवश्यकता नहीं है किन्तु जिज्ञासु जीवों को साधकदशा में अशुभराग से बचने के लिए सत् के प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि 'यद्यपि ज्ञानी, भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किये बिना मुमुक्षु जीवों का कल्याण नहीं हो सकता। सन्तों के हृदय में निवास करनेवाला यह गुप्त रहस्य यहाँ खोलकर रख दिया गया है।' सत् के जिज्ञासु को सत् के निमित्तरूप सत्पुरुष की भक्ति का उल्लास आये बिना रह नहीं सकता।

पहले तो उल्लास जागृत होता है कि अहो! अभी तक तो असङ्ग चैतन्यज्योति आत्मा की बात ही नहीं सुनी और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति से भी अलग रहा, इतना समय बीत गया। इस प्रकार जिज्ञासु को पहले की भूल का पश्चाताप होता है और वर्तमान में उल्लास जागृत होता है किन्तु यह देव-गुरु-शास्त्र का राग आत्मस्वभाव को प्रगट नहीं करता। पहले तो राग उत्पन्न होता है और फिर 'यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है' - इस प्रकार स्वभावदृष्टि के बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।

वास्तव में तो देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनादि से सत्य समर्पण ही नहीं हुआ है, उनका कहा हुआ सुना तक नहीं है। वरना देव-गुरु-शास्त्र तो यह कहते हैं कि तुझे मेरा आश्रय नहीं है, तू स्वतन्त्र है। यदि देव-गुरु-शास्त्र की सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतन्त्रता की श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव-गुरु-शास्त्र के चरण में तन-मन-धन समर्पण किये बिना, जिसमें सम्पूर्ण आत्मा का समर्पण समाविष्ट है - ऐसा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहाँ से प्रगट होगा?

अहो! जगत् को वस्त्र, मकान, धन आदि में तो महिमा



भासित होती है परन्तु जो जगत् का कल्याण कर रहे हैं - ऐसे देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भक्ति-समर्पण का भाव उत्पन्न नहीं होता। उसके बिना उद्धार का अवसर भी कैसा?

**प्रश्न** - आत्मा के स्वरूप में राग नहीं है, फिर भी देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभराग करने के लिये क्यों कहते हैं?

**उत्तर** - जैसे, किसी म्लेच्छ को माँस छुड़ाने का उपदेश देने के लिए म्लेच्छ भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है किन्तु उससे ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता; उसी प्रकार सम्पूर्ण राग छुड़ाने के लिए उसे अशुभराग से हटाकर देव-गुरु-धर्म के प्रति शुभराग करने को कहा जाता है तो भी वहाँ राग कराने का हेतु नहीं है किन्तु राग छुड़ाने का हेतु है। जो राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजन है; राग रहे, यह प्रयोजन नहीं है।

पहले सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहिचान करके, उसके बाद 'देव-शास्त्र-गुरु का शुभराग भी मेरा स्वरूप नहीं है' — इस प्रकार राग का निषेध करके वीतरागस्वरूप की श्रद्धा करने लगता है।

प्रभु! पहले जिन्होंने प्रभुता प्रगट की है - ऐसे देव-गुरु की भक्ति और महिमा नहीं आवे और जगत् की महिमा दिखाई दे, तब तक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहारश्रद्धा तो जीव अनन्त बार कर चुका, परन्तु इस आत्मा की श्रद्धा अनन्त काल से नहीं की है - परमार्थ को नहीं समझा है, शुभराग में अटक गया है, इसी कारण संसार में परिभ्रमण कर रहा है। यदि एक बार भी आत्मा की यथार्थ श्रद्धा करे तो जन्म-मरण का अभाव होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहेगी; अर्थात्, अवश्य मुक्तदशा प्राप्त होगी। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-1, पृष्ठ 111-114 ]*

# 9. सत् के गहरे संस्कार डाल!

**तू सत् की गहरी जिज्ञासा कर, जिससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा....;**

गहरी जिज्ञास का अर्थ क्या? कि ऊपर-ऊपर से आत्मा ऐसा है और वैसा है – ऐसा शास्त्र से नहीं, किन्तु अन्तर में सत्-चिद्-आनन्द प्रभु आत्मा सर्वोत्कृष्ट आनन्दस्वरूप से विद्यमान है, उसे समझने की गहरी भावना कर!

खान-पानादि की जरा अनुकूलता हो, तो वहाँ मानों तृप्त-तृप्त हो जाता है; रबड़ी-मलाई और पूरी-कचौड़ी को एकाकार होकर रुचिपूर्वक खाता है, उसमें तल्लीन हो जाता है। अरे प्रभु! यह क्या हो गया है तुझे? वह तो जड़ है, उसमें तुझे कहाँ से सुख का अनुभव हुआ? उसकी मिठास का ज्ञान होने से ज्ञान में मिठास नहीं आती और ज्ञान, मिठास में नहीं जाता। हाँ, मात्र राग करता है कि मैसूब अच्छा है। उस राग के-पाप के विकल्प को तू अनुभवता है-भोगता है। तू क्या भोगता है? – उसकी भी तुझे खबर नहीं है। परवस्तु को तो तू भोग ही नहीं सकता। लक्ष्मी, बँगला, मोटर यह सब जड़ है – पर है; तू उनका स्पर्श भी नहीं करता और न वे तुझे छूते हैं।

**प्रश्न** – साहब, रुपये मीठे तो लगते हैं?



**उत्तर** – खाक मीठे लगते हैं? मिठास की वृत्ति जीव का रागभाव है, पैसा तो जड़ है। क्या आत्मा, जड़ का स्पर्श करेगा? आत्मा तो अरूपी है, स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरहित है। आत्मा, रुपये से तो क्या, शरीर से भी भिन्न वस्तु है, उसे छुए बिना उसके साथ रहता है। अहा! यह बात कैसे बैठे? ध्रुव स्वभाव की थाह लेने के लिए चैतन्य का धरातल हाथ आये – ऐसी गहरी जिज्ञासा कर! उससे तेरा प्रयत्न बराबर चलेगा।

विषय-कषाय के प्रेम में ही जिसका जीवन बीत जाता है, वह तो मात्र दु:ख के दावानल में डूब गया है। वह सब तो अशुभ है ही, परन्तु यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय का शुभराग भी दु:खरूप है; इसलिए शुभाशुभभाव से रहित अन्तर में चैतन्य भगवान् सत् है, नित्य वस्तु है, जो बैठने का विश्रामस्थल और रहने का शान्तिधाम है; उसकी ऊपरी नहीं, किन्तु गहरी जिज्ञासा कर।

**..... तेरी मति सरल एवं सुलटी होकर आत्मा में परिणमित हो जाएगी।**

अपनी मति को, विपरीतता से हटाकर स्वरूप की ओर मोड़ दे। गहरी जिज्ञासा से तेरी मति आत्मा में परिणमित हो जाएगी। उसका बराबर प्रयत्न चलने से तेरी जाति शुद्धरूप परिणमित हो जाएगी। शुभराग से भिन्न होकर स्वरूपोन्मुख होने पर मति परिणमित हो जाएगी।

गहरे-गहरे तल में उतरने से तेरी बुद्धि सरल और सुलटी होकर आत्मा में परिणमित हो जाएगी। अबुद्धिपूर्वक विकल्प रहने पर भी, बुद्धिपूर्वक का उपयोग अन्तर में जाने पर आत्मा

सम्यग्दर्शनरूप, सम्यग्ज्ञानरूप, सम्यक्शान्तिरूप, अतीन्द्रिय आनन्द के अंशरूप हो जाएगा। जिसने निज आत्मा को ग्रहण किया है, उसकी परिणति ऐसी निर्मल हो जाएगी। अहाहा! यह कैसा उपदेश!

**....सत् के संस्कार गहरे डाले होंगे तो अन्त में अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा।**

शुद्ध सत्तारूप पूर्णानन्द पवित्र प्रभु के गहरे संस्कार डाले होंगे तो भविष्य में भी तेरा अपना कार्य हो जाएगा। यह आत्मा सत्स्वरूप वस्तु है, शुद्ध चैतन्य आनन्दकन्द है – ऐसा व्यवहारश्रद्धा में भी जिसने दृढ़रूप से धारण कर रखा है, उसे सत् के संस्कार अन्तर में गहरे जाकर परिणमित हो जाएँगे क्योंकि उसका वीर्य, राग की रुचि में से हट गया है। यद्यपि अभी अन्तर में धर्म हुआ नहीं है, किन्तु 'राग की ओर ढलना और राग की रुचि करना' – वह श्रद्धा में से चला गया है। आत्मा, ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है, वहाँ जाना और रहना – ऐसी श्रद्धा की है; राग में आये किन्तु राग से लाभ न माने; इस प्रकार व्यवहारश्रद्धा में, विकल्पसहित श्रद्धा में, सत् के गहरे संस्कार डाले होंगे तो अन्त में अन्य गति में भी सत् प्रगट होगा। यह भव पूरा हो गया तो अगले भव में प्राप्ति होगी; पुरुषार्थ की कुछ कमी रह गयी हो तो पुरुषार्थ वहाँ पूर्ण हो जाएगा।

**प्रश्न** – ऐसा करने के लिये उसकी पात्रता कितनी होना चाहिए?

**उत्तर** – पात्रता में ऐसी श्रद्धा आती है कि भीतर स्वभाव में गये बिना आत्मा का धर्म कभी त्रिकाल में नहीं होगा; यह दया–दान एवं व्रत–पूजादि के भाव, सब दुःखरूप हैं; मेरे आनन्द के घातक हैं – इस प्रकार जिसने रुचि का वेग पर की ओर से बदल दिया है और स्व की ओर ढलने का प्रयत्न चल रहा है, उसे सच्ची पात्रता के संस्कार भविष्य में भी रहेंगे और अन्त में दूसरी गति में सत् प्रगट होगा ही। विश्वास रख; प्रभु को पकड़ा है तो प्रभु मिले बिना नहीं रहेगा। यहाँ श्रद्धा भले ही विकल्पयुक्त है परन्तु अन्तर में जाने का जो प्रयत्न है, वह मुक्ति का कारण है।



जिसने अन्तर में सत् के संस्कार डाले हैं, उसे संस्कार छलक कर परिणति हो जाएगी। परिणति होने में कारण तो वर्तमान पुरुषार्थ है परन्तु पूर्व के संस्कार सहायक होते हैं – ऐसा पर्यायदृष्टि से–व्यवहार से कहा जाता है। 'समाधिशतक' में श्रीपूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि सम्यक्त्व प्राप्त जीव भी पूर्व संस्कार के कारण गिर जाता है; वास्तव में वहाँ वर्तमान विपरीत पुरुषार्थ होने से सम्यक्त्व गिर जाता है।

सारा जगत, राग से दब गया है–नष्ट हो गया है। अन्तर में निज प्रभु तो सर्व प्रकार के राग से रहित शुद्ध है; उसे राग की क्रिया से–सदाचरण के शुभभाव से, सम्यक्त्व या धर्म हो – ऐसी मान्यतारूप भाव, मिथ्यात्व है। उसका प्रेम, वह निगोद में जाने का लक्षण है और तत्त्व के गहरे संस्कार तो सिद्ध होने का लक्षण है।

**'इसलिए सत् के गहरे संस्कार डाल!'**

अन्तर में वस्तु त्रैकालिक सत् है। एक समय की पर्याय को त्रैकालिक सत् की ओर ढाल! उसमें तुझे सत् की प्राप्ति होगी। एक समय की पर्याय पर लक्ष्य जाएगा तो तुझे सत् की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि पर्याय में पूर्ण सत् नहीं है। पूर्ण सत् तो त्रैकालिक

स्वरूप में है। स्वयं अस्तित्ववान् अन्तरतत्त्व है परन्तु उसकी खबर नहीं है! भगवान आत्मा, दया-दानादि के विकल्पों से भिन्न है। कब? इसी समय। अरे! वह राग से तो भिन्न है परन्तु उसे जाननेवाली जो ज्ञान की वर्तमान पर्याय, उस पर्याय में भी सम्पूर्ण तत्त्व नहीं आता; उस वर्तमान अंश को त्रैकालिक की ओर ले जाएगा तो तुझे त्रैकालिक तत्त्व का परिणमन होगा-अनुभव होगा। पर्याय के ऊपर लक्ष्य रखकर परिणमेगा तो राग की दशा होगी और त्रैकालिक चैतन्य सत् पर दृष्टि करके, उसके गहरे संस्कार डालकर परिणमेगा तो वीतरागदशा होगी।

अरे! दुनिया को क्या पड़ी है? मैंने यह किया, मैंने कमाया और बड़ा उद्योगपति बन गया; पिता के पास कुछ नहीं था किन्तु मैंने अपने हाथों के बल से प्राप्त किया - इस प्रकार दुनिया पागलपन में जीवन व्यतीत कर देती है। प्रभु! तूने बाहर का कुछ किया नहीं है, कर भी नहीं सकता; तूने मात्र राग और मिथ्यात्वभाव किया है। अब, तू अपनी दिशा पलट दे! अन्तर में तू नित्य-स्थायी तत्त्व है; उसके तल पर दृष्टि लगा और उसके गहरे संस्कार डाल! वहाँ बैठने से आत्मा को स्थायी विश्राम मिलेगा। राग और पर्याय में बैठने से / रहने से तुझे दुःख होगा। एक समय की पर्याय भी तेरा ध्रुवधाम नहीं है। अहा! अन्तर में जहाँ तेरा ध्रुवधाम-भगवान आत्मा है, वहाँ जा! उसके संस्कार डाल तो तुझे सत् प्रगट होगा ही।

**आकाश-पाताल भले एक हो जाएँ परन्तु भाई! तू अपने ध्येय को मत चूकना, अपने प्रयत्न को मत छोड़ना। आत्मार्थ को पोषण मिले, वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ, उसे पूर्ण करना, अवश्य सिद्धि होगी।**



सारी दुनिया उलट जाए, बदल जाए परन्तु भाई! तू अपने ध्येय को मत चूकना। अन्तर में आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा है, उसे मत छोड़ना। दुनिया तो कहेगी कि यह तो भ्रष्ट हो गया, निश्चयाभासी हो गया; व्यवहार की तो इसके मन में कोई कीमत ही नहीं है। भले सारी दुनिया कहे परन्तु तू अन्तर की गहराई में उतर जा!

'आकाश-पाताल भले एक हो जाएँ।' यद्यपि वे कभी एक होते नहीं है परन्तु ऐसा कहकर यह कहना है कि विपरीतता में पड़े हुए मनुष्य, पण्डित नाम धारण करनेवाले, त्यागी नाम धारण करनेवाले, साधु नाम धारण करनेवाले-सब तेरा विरोध करें और कहें कि 'हम यह जो व्रत, तप और भक्ति करते हैं, वह क्या धर्म नहीं है?' - इस प्रकार सारी दुनिया भले बदल जाए, परन्तु भाई! अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, वह शरीर से, दया-दान के विकल्प से और उन्हें जाननेवाली एक समय की पर्याय से भी भिन्न है, उस अपने ध्येय को तू चूकना नहीं। भीतर जहाँ आनन्द भरा है, उस आनन्द के नाथ आत्मा के संस्कार डालकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का प्रयत्न कर; उसके अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं होगा।

यह शरीर तो हाड़, माँस तथा चमड़े की बनी हुई कुटिया है। भीतर दया, दान, यात्रादि पुण्य के तथा खान-पान, राग-रङ्ग आदि पाप के भाव आते हैं परन्तु वे तो राग और दुःखरूप हैं। प्रभु! तू राग एवं दुःख से भिन्न वस्तु हैं। इस ध्येय में सारी दुनिया तेरा विरोध करे, तथापि तू अपने ध्येय को छोड़ना मत। ●

*[ वचनामृत-प्रवचन, भाग-1, पृष्ठ 129-135 ]*
*( बहिनश्री के वचनामृत पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन )*

# 10. छह माह का कोर्स

आत्मप्राप्ति के अभ्यास का कोर्स कितना? अधिक से अधिक छह महीने! जिस प्रकार मेट्रिक के अभ्यास का कोर्स दस-ग्यारह वर्ष का होता है; बी.ए. के अभ्यास का कोर्स तीन वर्ष का होता है; इसी प्रकार यहाँ धर्म के अभ्यास में बी.ए. का अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा के अनुभव का कोर्स कितना? आचार्यदेव कहते हैं कि अधिक से अधिक छह महीने तक अभ्यास करने से तुझे ब्रह्मस्वरूप आत्मा का अनुभव अवश्य होगा... परन्तु अभ्यास के लिए एक शर्त! क्या शर्त?... कि दूसरा सब कोलाहल छोड़कर अभ्यास करना... किस प्रकार अभ्यास करना? यह बात सिखलाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि —

**विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन**
**स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।**
**हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो**
**ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ 34॥**

देखो, जिसे आत्मा का अनुभव करने की लगन लगी है - ऐसे शिष्य को सम्बोधित करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! **विरम**.... जगत् के अन्य सब व्यर्थ के कोलाहल से तू



विरक्त हो, अन्य व्यर्थ के कोलाहल से तुझे कुछ लाभ नहीं है; इसलिए उससे तू विरक्त हो जा... बाह्य कोलाहल को एक ओर रखकर अन्दर में चैतन्य को देखने का अभ्यास कर। समस्त परभावों के कोलाहल से रहित - ऐसे चैतन्यस्वरूप को देखने के लिए निवृत्त हो... निवृत्त होकर अर्थात् शान्त होकर, निश्चल होकर, एकाग्र होकर, विश्वासी होकर, स्थिर होकर, गुप्त रीति से चुपचाप विनीत होकर, दृढ़ होकर, अन्तर में चैतन्य को देखने का छह महीने तक इसी प्रकार अभ्यास कर...। एक बार छह महीने तक ऐसा अभ्यास करके, तू विश्वास करके देख कि ऐसा करने से तेरे हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न चैतन्य प्रकाश की प्राप्ति होती है या नहीं? छह महीने में तो अवश्य प्राप्ति होगी।

हे भाई! अपनी बुद्धि से देह और रागादिक को अपना मानकर, उनका तो तूने अनन्त काल से अभ्यास किया है, तथापि चैतन्यविद्या प्राप्त नहीं हुई और तेरा आत्मा अनुभव में नहीं आया तथा तू अज्ञानी ही रहा... इसलिए अब अपनी इस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर, जिस प्रकार हम कहते हैं, उस प्रकार अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य चैतन्यविद्या प्राप्त होगी... छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई! छह महीना तो हम अधिक से अधिक कहते हैं। यदि तू उत्कृष्ट आत्मलगनपूर्वक प्रयत्न करेगा, तब तो दो घड़ी में ही तुझे आत्मा का अनुभव हो जाएगा।

अहा! देखो तो सही, यह चैतन्य के अनुभव का मार्ग! कितना सरल और सहज! चैतन्य का अनुभव, सहज और सरल होने पर भी दुनिया के व्यर्थ के कोलाहल में जीव रुक गया होने से उसे वह

दुर्लभ हो गया है। इसलिए आचार्यदेव विशिष्ट शर्त रखते हैं कि दुनिया का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर, चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर...। एक चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त सब भूल जा... इस प्रकार मात्र चैतन्य का ही अभिलाषी होकर अन्तर में उसके अनुभव का अभ्यास कर तो उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी। 'कितने समय में?' मात्र दो घड़ी में! कदाचित् तुझे कठिन लगे और देरी लगे तो भी अधिक में अधिक छह महीने में तो अवश्य आत्मा की प्राप्ति होगी। इस प्रकार आत्मप्राप्ति के अभ्यास का अधिक में अधिक कोर्स छह महीने का है।

यहाँ अधिक में अधिक छह महीना कहकर, कहीं काल की गिनती पर वजन नहीं देना है परन्तु शिष्य को आत्मलगन के भाव कैसे उग्र हैं? – यह बताना है। जो शिष्य सम्पूर्ण जगत् की दरकार छोड़कर आत्मा का अनुभव करने के लिए तैयार हुआ है, वह शिष्य, काल के माप के समक्ष नहीं देखता... 'कि कितना काल हुआ!' वह तो अन्तर में चैतन्य के पकड़ने के अभ्यास में गहरे से गहरा उतरता जाता है, प्रतिक्षण चैतन्यस्वभाव के समीप ही समीप होता जाता है – ऐसा का ऐसा धारावाही अभ्यास ठेठ आत्मा का अनुभव होने तक वह चालू ही रखता है। ऐसे अनुभव के अभ्यास में उसे अपने ही अन्तर में प्रतिभासित होता है कि मेरे चिदानन्दस्वभाव की शान्ति अब निकट ही है, सुख के समुद्र को स्पर्श कर हवा आ रही है तो अब सुख का समुद्र एकदम पास ही है; इसलिए आचार्यदेव ने कहा है कि हे भाई! छह महीने तक ऐसा अभ्यास करने से तुझे अपने ही हृदय में चैतन्य का विलास दिखलाई देगा। इसलिए अभी तक की अभ्यास की हुई तेरी उलटे-सीधे



दलीलों / कुतर्कों को एक ओर रख दे और इस प्रकार अन्तर में चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर।

देखो, यह चैतन्यविद्या का अभ्यास! यह चैतन्यविद्या तो भारत की मूल विद्या है। पूर्व काल में तो बाल्यवय से ही भारत में बालकों में ऐसी चैतन्यविद्या के संस्कार डाले जाते थे... माताएँ भी धर्मात्मा थीं, वे अपने बालकों को ऐसे उत्तम संस्कार सिखलाती थीं और बालक भी अन्तर में अभ्यास करके, अन्तर में उतरकर, आठ-आठ वर्ष की उम्र में आत्मा का अनुभव करते थे। भारत में चैतन्यविद्या का ऐसा अद्‌भुत धर्मकाल था... उसके बदले आज तो इस चैतन्यविद्या का श्रवण प्राप्त होना भी कितना दुर्लभ हो गया है! परन्तु जिसे हित करना हो और शान्ति अपेक्षित हो, उसे यह चैतन्यविद्या सीखना ही होगी... इसके अतिरिक्त जगत् की दूसरी किसी विद्या के द्वारा आत्मा का हित अथवा शान्ति का अंश भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए हे जीवों! 'यह बात हमें समझ में नहीं आती... हमें कठिन लगती है... हमें अभी समय नहीं है' -इस प्रकार व्यर्थ का बकवास करना बन्द करो... और इस चैतन्य के अभ्यास में ही अपनी आत्मा को जोड़ो। छह महीने तक एक धारा से अभ्यास करने से तुम्हें अवश्य आत्मभान और आत्मशान्ति होगी।

बाहर की दूसरी विद्या – मैट्रिक अथवा एम.ए. इत्यादि पढ़ने के लिए कितने वर्ष गँवाता है? पैसा कमाने के लिए विदेश में भी कितने वर्ष गँवाता है... तो यह चैतन्यविद्या जो कि अपूर्व है, उसके लिए एक बार छह महीने तो निकाल। छह महीने तो अन्तर में चैतन्यविद्या का अभ्यास कर! मन नहीं, राग नहीं, पर की अपेक्षा

नहीं – इस प्रकार पर के अवलम्बनरहित स्वाश्रित चैतन्य के अनुभव के लिए निश्चलरूप से छह महीने तो अन्दर में प्रयत्न कर! दूसरी सब बातों से निवृत्त होकर, समस्त परभावों से मैं पृथक् हूँ – ऐसा लक्ष्य में लेकर, अन्तर में उतरकर चैतन्यसरोवर में एक बार तो डुबकी मार! स्वरूप के अभ्यास से आत्मप्राप्ति सुलभ है; अधिक से अधिक छह महीने में वह अवश्य प्राप्त होता है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 194-197 ]*
*( समयसार कलश 34 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन )*

## काल और क्षेत्र से अप्रभावित मुनिदशा

**प्रश्न** – यह तो चौथे काल के साधुओं की बात है?

**उत्तर** – अरे यह तो पञ्चम काल के साधु की बात है। पञ्चम काल में साधुपना कैसा होता है? वह यहाँ बतला रहे हैं। चौथे काल के हों अथवा पञ्चम काल के हों, साधु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। 'एक होय तिन काल में परमारथ का पन्थ' तीनों काल मुनिपना एक ही प्रकार का होता है। जैसे, वस्तु का मूल स्वरूप तीनों काल पवित्र और शुद्ध एक ही प्रकार का होता है; उसी प्रकार उसके अवलम्बन से प्रगट होनेवाली पवित्रता और शुद्धता/मुनिदशा भी तीनों काल एक प्रकार ही होती है। शुभयोग से, शुभभाव से वह पवित्र दशा प्रगट नहीं होती। शुभराग तो निमित्त के आश्रय से प्रगट होता है, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। *( वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 196 )*

# 11. श्रीगुरु का आत्महितकारी सम्बोधन

श्रीगुरु, संसारी भव्य प्राणियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे अन्ध प्राणियों...! यहाँ अन्ध क्यों कहा? इसलिए कि अपनी वस्तु जो त्रिकाल शुद्ध ज्ञानानन्दमय निर्मलानन्द का नाथ प्रभु अन्दर विद्यमान है, उसे नहीं देखते; इसलिए अन्ध कहा है। शरीर, धन, लक्ष्मी इत्यादि बाह्य वस्तुओं में उन्मत्त हुए / मूर्च्छित हुए प्राणी, सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा को नहीं देखते–नहीं जानते; इसलिए उन्हें अन्ध कहा है।

हे अन्ध प्राणियों! अनादि संसार से लेकर पर्याय-पर्याय में यह रागी जीव सदा मत्त वर्तते हुए जिस पद में सो रहे हैं, वह पद; अर्थात्, स्थान अपद है, अपद है।

जीव, अनादि संसार से पर्याय में मूढ़ बना हुआ है। जो पर्याय प्राप्त हुई, वह पर्याय ही मेरा स्वरूप है; इस प्रकार उन्मत्त–पागल होकर वर्तता है। अहा! मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं नारकी हूँ, मैं तिर्यञ्च हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं दरिद्री हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं मूर्ख हूँ – इत्यादि रूप से पर्याय-पर्याय में अपने को मानता है और पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है परन्तु अपने त्रिकाली ध्रुव चैतन्यमात्र आत्मस्वरूप में दृष्टि नहीं करता। स्वरूप में दृष्टि करे तो निहाल

हो जाए, परन्तु दृष्टि नहीं करता; इसलिए तो अन्ध कहकर आचार्यदेव सम्बोधन करते हैं।

वाह! एक ओर समयसार गाथा 72 में 'भगवान आत्मा' — ऐसा भगवान कहकर बुलाते हैं और यहाँ 'अन्ध' कहकर सम्बोधन करते हैं – ऐसा क्यों? भाई! आत्मा, सदा सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है, स्वभाव से तो सदा परमार्थस्वरूप–भगवानस्वरूप ही है – ऐसे स्वभाव की अपेक्षा इसे भगवान कहकर बुलाया है और यहाँ स्वयं पर्याय में राग–द्वेष, पुण्य–पाप के भाव और उसके फल में उन्मत्त / पागल होकर वर्तता हुआ, उस नित्यानन्दस्वभाव को नहीं देखता; इसलिए अन्ध कहकर सम्बोधित किया है। दोनों समय स्वरूप में ही दृष्टि कराने का प्रयोजन है।

अनादि संसार से रागी प्राणी, पर्याय में ही मत्त वर्तता हुआ, जिस पद में सो रहा है, वह पद, अपद है... अपद है। तात्पर्य यह है कि वह पद तेरा स्वपद नहीं है। बापू! यह शरीर, इन्द्रियाँ, धन–सम्पत्ति, महल–मकान, स्त्री–परिवार इत्यादिक में मत्त–मोहित होकर तू सो रहा है परन्तु यह सब तो अपद है, अपद है। यह सुन्दर शरीर दिखता है न भाई! एक बार वह अग्नि में जलेगा... शरीर में से अग्नि की लपटें निकलेंगी और उसकी राख होकर उड़ जाएगी। प्रभु! यह तेरी चीज कहाँ है? यह तो अपद है। यह पुण्यभाव और इसके फल में प्राप्त देवपद, राजपद, सेठपद इत्यादि में तू मूर्च्छित होकर पड़ा है परन्तु यह सब अपद है; अर्थात्, यह तेरे चैतन्य के अविनाशी पद नहीं हैं। अन्दर भगवान चैतन्यदेव प्रभु आत्मा, एक ही तेरा अविनाशी पद है।

भाई! तू देह की, इन्द्रियों की, वाणी की और बाह्य पदार्थों की



सम्हाल तो रात–दिन किया करता है, सजावट किया करता है परन्तु वे तो अपद है न प्रभु! उस अपद में कहाँ शरण है? नाशवन्त चीज की शरण क्या? भगवान! ये क्षण विनाशी वस्तुएँ, तेरे रहने का और बैठने का स्थान नहीं हैं। वह अपद है... अपद है – ऐसा समझो।

यहाँ अपद शब्द दो बार कहने से आचार्यदेव का करुणाभाव सूचित होता है। अहा! सन्तों की क्या करुणा है! वे कहते हैं कि भगवान! अपने भगवान स्वरूप को भूलकर, मैं देव हूँ, मैं राजा हूँ, मैं पुण्यवन्त हूँ, मैं धनवन्त हूँ, इत्यादि नाशवन्त वस्तुओं में अहंबुद्धि क्यों धारण करता है? तुझे क्या हुआ है प्रभु! इन अपद में तुझे प्रीति और प्रेम क्यों है? भाई! वहाँ रहने और बैठने का स्थान तेरा नहीं है।

जैसे, कोई राजा शराब पीकर कचरे के ढेर पर जाकर सो रहा हो तो उसे दूसरा विज्ञ पुरुष आकर कहता है अरे राजन्! यह क्या करते हो? तुम कहाँ हो? तुम्हारा स्थान तो स्वर्णमयी सिंहासन है। इसी प्रकार मोहरूप शराब पीकर उन्मत्त हुआ अज्ञानी जीव, अपने शुद्ध सच्चिदानन्द भगवान को भूलकर अस्थान में; अर्थात्, स्त्री, पुत्र, परिवार, धन–सम्पत्ति, शरीरादि में जाकर सो रहा है। उसे आचार्यदेव सावधान / जागृत करके कहते हैं कि अरे भाई! तू जहाँ सो रहा है, वह तो अस्थान है... अस्थान है; इस ओर आओ!

अहो! आचार्यदेव की असीम वीतरागी करुणा है! अपद है... अपद है – ऐसा दो बार कहा और यहाँ आओ... यहाँ आओ – ऐसा भी दो बार कहा। तात्पर्य यह है कि यहाँ अन्दर आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु रागरहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप विराज रहा है, वह तेरा अविनाशी ध्रुवधाम है; इसलिए अन्य सर्व का लक्ष्य छोड़कर उसमें

आ जाओ। अहा हा! क्या करुणा है!! स्वयं ने जिस निराकुल आनन्द का स्वाद चखा है, वह सारा जगत चखे – ऐसी अन्तरङ्ग करुणा का भाव आचार्यदेव को हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इस ओर आओ... इस ओर आओ, यहाँ निवास करो! देखो, मात्र वास करो – ऐसा नहीं, परन्तु निवास करो – ऐसा कहते हैं। वास अर्थात् बसना। यह तो सामान्य है परन्तु यहाँ तो 'निवास' कहकर विशेष कथन है। तात्पर्य यह है कि यहाँ स्वरूप में ऐसे रहो कि वहाँ से फिर निकलना न पड़े। अन्दर चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसमें आकर स्थिर हो जाओ – ऐसा कहते हैं। अहो! अद्भुत कलश और अद्भुत शैली है। आचार्य अमृतचन्द्र चलते सिद्ध, सबको सिद्धपद के लिए आह्वान करते हैं। वे कहते हैं कि इस ओर आओ... इस ओर आओ, यहाँ निवास करो। क्यों? इसलिए कि तुम्हारा पद यह है... यह है। इस प्रकार —

१. पुण्य-पाप और उनके फल, सभी अपद हैं... अपद हैं।

२. इस ओर आओ... इस ओर आओ, यहाँ निवास करो।

३. तुम्हारा पद यह है... यह है।

अहा हा! क्या कलश लिखा है!! भगवान को अन्दर में देखा है न बापू! आचार्यदेव ने गजब दृढ़ता से घोषणा की है कि शरीर, मन, वाणी, धन-सम्पत्ति, सेठपद, राजपद अथवा देवपद इत्यादि सब अपद हैं... अपद हैं। तेरा पद तो भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा है। इसमें निवास कर! यह है... यह है – ऐसा कहकर, कहते हैं कि हम उसमें बसते हैं और तू भी उसमें बस। जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु निज रस की अतिशयता के कारण स्थायी भावपने को प्राप्त है; अर्थात्, स्थिर है, अविनाशी है।



देखो; जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु है, वह तेरा स्वपद है। यहाँ शुद्ध-शुद्ध – ऐसा दो बार कहा है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य शुद्ध और पर्याय भी शुद्ध है अथवा द्रव्य और गुण शुद्ध हैं; यदि पर्याय लें तो त्रिकाली कारणशुद्धपर्याय शुद्ध है। वरना तो द्रव्य शुद्ध है और गुण भी शुद्ध हैं – ऐसी चैतन्यधातु है। अहा हा! जिसने मात्र चैतन्यपना धारण कर रखा है और जिसने राग और पुण्य-पाप को धारण नहीं कर रखा, वह चैतन्यधातु है। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान आत्मा, अन्दर चैतन्यधातु है क्योंकि उसने चैतन्यमात्रपना धारण कर रखा है।

आचार्य कहते हैं कि निजरस की अतिशयता से जो स्थिर है – ऐसा शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु, वह आत्मा तेरा स्व पद है, उसमें तू निवास कर।

अहा हा! आत्मा निजरस की अतिशयता से भरपूर है। उसके चैतन्यरस में आनन्दरस, ज्ञानरस, शान्तरस, वीतरागतारस, स्वच्छतारस, प्रभुतारस इत्यादि ऐसे अनन्त गुणों का रस एकरूप भरा है। अहो! आत्मा में निजरस की अतिशयता; अर्थात्, विशेषता है। इसका आशय क्या? आशय यह है कि आत्मा को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी ऐसा निजरस, चैतन्यरस नहीं है। गजब बात है प्रभु! आचार्यदेव ने शब्द-शब्द में भेदज्ञान का अमृत बहाया है।

किसी को ऐसा लगता है कि व्यापार-धन्धे में से निवृत्ति लेकर यह सब जानने की अपेक्षा तो व्रत, तप, भक्ति, दान इत्यादि करें तो?

अरे भाई! उन व्रतादिक में क्या है? वह तो शुभभाव-पुण्यभाव है और वह अपद है, अस्थान है तथा उनके फल में प्राप्त शरीर,

धन-सम्पत्ति, राजपद, देवपद इत्यादि सब अपद हैं, दु:ख के स्थान हैं। दु:ख के निमित्त हैं; इसलिए दु:ख के स्थान हैं – ऐसा उपचार से कहा जाता है।

बापू! यह पञ्च महाव्रत के विकल्प भी अपद हैं, अस्थान हैं; उनमें रहने योग्य स्थान नहीं हैं। प्रभु! तेरे रहने का स्थान तो जहाँ शुद्ध-शुद्ध चैतन्यधातु है, वह आत्मा है। भाई! दया, दान, व्रत आदि परिणाम तो राग हैं, उनसे तो तेरी वस्तु भिन्न है। चैतन्य से भरपूर अपनी वस्तु को तो वे व्रतादिक के विकल्प छूते भी नहीं हैं – ऐसी तेरी वस्तु अन्दर निर्लेप पड़ी है। अहा हा! उसमें अकेले आनन्द का सागर उछल रहा है, उसमें आ न प्रभु! अहो! सन्तों की-मुनियों की करुणा तो देखो!!

आत्मा '**स्वरस-भरतः**'; अर्थात्, निजशक्ति के रस से भरा है। अहा हा! अनन्त गुणरस के पिण्ड प्रभु आत्मा में चैतन्यरस, आनन्दरस भरा हुआ है। अनन्त अस्तित्व का आनन्द, वस्तुत्व का आनन्द, जीवत्व का आनन्द, ज्ञान का आनन्द, दर्शन का आनन्द, शान्ति का आनन्द – ऐसे अनन्त गुण के आनन्द के रस से प्रभु आत्मा भरा हुआ है और वह स्थायीभावपने को प्राप्त है। यह शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ, स्त्री, पुत्र, परिवार और पुण्य-पाप के भाव तो सभी नाशवान हैं परन्तु भगवान आत्मा निजरस की अतिशयता से स्थिर, अविनाशी है। अन्दर त्रिकाल स्थायी रहनेवाला है, नित्य रहनेवाला है। अहो! बहुत सरस कलश आ गया है।

भगवान आत्मा अन्दर स्थायी भाव, स्थिर / नित्य है – ऐसा त्रिकाली ध्रुवधाम प्रभु आत्मा तेरा निजघर है। यहाँ कहते हैं कि सर्व अपद से छूटकर यहाँ निजपद में आ जा। इससे तू जन्म-मरण से



रहित हो जाएगा। जैसे, पूरण-पोली, घी के रस से सराबोर होती है; उसी प्रकार भगवान आत्मा चिदानन्दरस से लबालब भरा है। उसमें दृष्टि करके अन्दर में निवास कर! इससे तेरी पर्याय में भी आनन्दरस टपकेगा। भाई! यह चैतन्यपद है, वह तेरा ध्रुवपद है, उसे भूलकर तू अपद में क्यों सो रहा है? प्रभु! जाग नाथ... जाग!! और इस ध्रुवपद में आ जा, तुझे मोक्षपद प्राप्त होगा।

अब, कभी वाचन, श्रवण, मनन प्राप्त नहीं करे और यूँ ही व्यापार-धन्धे में तथा स्त्री, पुत्र, परिवार में मग्न रहता है परन्तु भाई! यह तो तू पागल है – ऐसा यहाँ कहते हैं। प्रभु! तू कहाँ है और कहाँ जा रहा है? इसका तुझे पता नहीं है परन्तु भाई! जैसे, वैश्या के घर जानेवाला व्यभिचारी है; उसी प्रकार राग में और पर में जानेवाला व्यभिचारी है। भाई! जो अपनी वस्तु नहीं है, उसे अपनी मानना, वह व्यभिचार है।

देखो! देवों ने द्वारिकानगरी की रचना श्रीकृष्ण के लिए की थी। अहा! जिस नगरी में सोने के गढ़ और रत्न के कंगूरे थे – ऐसी वह मनोहर नगरी जब जलने लगी, तब लाखों-करोड़ों प्रजा उसमें भस्म हो गयी, परन्तु कोई उन्हें बचाने के लिए नहीं आया। उस समय श्रीकृष्ण और बलदेव अपने माता-पिता को रथ में बिठाकर बाहर निकालने लगे, तब आकाशवाणी हुई कि माता-पिता को छोड़ दो, तुम दोनों के अतिरिक्त कोई नहीं बचेगा, माता-पिता भी नहीं बचेंगे। अहा! जिनकी हजारों देव सेवा करते हों, वे श्रीकृष्ण और बलदेव भी माता-पिता को भस्म ही होते देखते रहे, परन्तु उन्हें बचा नहीं सके, मात्र विलाप ही करते रह गये।

अरे भाई! नाशवान् वस्तु को उसके नाश के काल में कौन

बचा सकता है ? जिस समय देह को छूटने का काल होता है, उस समय उसे कौन बचा सकता है ? बापू ! जगत् में कोई शरण नहीं। देखो न ! अन्दर रानियाँ चित्कार करके पुकारती हैं – 'हे श्रीकृष्ण ! हमें निकालो... हमें निकालो !' परन्तु कौन निकाले ? बापू ! त्रिखण्ड के स्वामी श्रीकृष्ण भी यह सब देखते रह गये।

श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई बलदेव से कहने लगे – भाई ! अब हम कहाँ जाएँगे, यह द्वारिका तो राख हो गयी है और पाण्डवों को तो हमने देश से निष्कासित कर दिया है। अब हम कहाँ जाएँगे ? तब बलदेव कहने लगे – हम पाण्डवों के पास जाएँगे। भले ही हमने उन्हें निष्कासित किया है परन्तु वे सज्जन हैं। अहा ! समय तो देखो ! जिनकी देवता सेवा करते हैं, वे वासुदेव पुकार करते हैं कि हम कहाँ जाएँगे ? गज़ब बात है न !

अब वे दोनों कौशाम्बी वन में पहुँचे। तब थके हुए श्रीकृष्ण ने कहा – भाई ! अब मुझसे एक डग भी आगे नहीं चला जा सकता। तब बलदेव ने कहा – भाई ! तुम यहीं रहो, मैं पानी भरकर लाता हूँ, परन्तु पानी लायें किसमें ? बलभद्र ने पेड़ के पत्तों में सींक डालकर लोटे जैसा आकार बनाया और पानी लेने गये।

अब क्या प्रसङ्ग बना ? वही कि जो भगवान की दिव्यध्वनि में आया था। भगवान की वाणी में आया था कि जरतकुमार के द्वारा श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। इसलिए वह तो बेचारा बारह वर्ष से जङ्गल में रह रहा था। श्रीकृष्ण भी वहाँ पैर पर पैर चढ़ाकर सो रहे थे। जरतकुमार ने दूर से देखा कि यह कोई हिरण है; इसलिए उसने तीर चला दिया। तीर श्रीकृष्ण को लगा, जरतकुमार ने नजदीक



आकर देखा, तो वह खेदखिन्न हो गया। वह कहने लगा – अहा भाई ! अभी तुम यहाँ ? मैं तो बारह वर्ष से जङ्गल में रह रहा हूँ, फिर भी मेरे हाथ से यह गजब ? अरे ! अब मुझे कहाँ जाना ? श्रीकृष्ण ने कहा – भाई ! ले, यह कौशतुभमणि और पाण्डवों के पास चला जा, वे तुझे रखेंगे, क्योंकि यह मेरा चिह्न है।

जरतकुमार तो वहाँ से विदा हो गया और अहा ! और श्रीकृष्ण की देह छूट गयी। रे ! कौशम्बी वन में श्रीकृष्ण अकेले मरणाधीन ! वहाँ कोई शरण नहीं है बापू ! इस अपद में शरण कहाँ ? प्रभु ! वासुदेव का पद भी अपद है, अशरण है। इसीलिए तो आचार्यदेव ने जोरदार गर्जना की है कि यहाँ आओ... यहाँ आओ, जहाँ शुद्ध –शुद्ध चैतन्यधातु, निजरस की अतिशयता से स्थिरभाव को प्राप्त है।

जैसे, कोई महान पुरुष मद्य पीकर मलिन स्थान पर सो रहा हो। उसे कोई आकर जगाये, सम्बोधित करे कि यह तेरे सोने का स्थान नहीं है, तेरा स्थान तो स्वर्णमय धातु से निर्मित है। अन्य कुधातु के मेल से रहित शुद्ध और अत्यन्त मजबूत है; इसलिए मैं तुझे बतलाता हूँ, वहाँ आ... वहाँ शयन आदि करके आनन्दित हो।

देखो, जिसने शराब पिया हो, उसे भान नहीं होता कि मैं कहाँ सो रहा हूँ ? वह तो गन्दगी के ढेर पर भी जाकर सो जाता है। उसे जगाते हुए दूसरा कोई कहता है कि –

१. भाई ! तेरा सिंहासन तो स्वर्णमय धातु से निर्मित है;

२. वह अन्य कुधातु के मेल से रहित शुद्ध है, और

३. अति मजबूत है।

इसलिए मैं बताता हूँ वहाँ आ और अपने स्थान में शयन आदि

करके आनन्दित हो! इसी प्रकार यह प्राणी, अनादि संसार से लेकर रागादिक को भला जानकर, उन्हें ही अपना स्वभाव जानकर, उनमें ही निश्चिन्त होकर सो रहे हैं–स्थित हैं।

देखो, संसारी प्राणी अनादि निगोद से लेकर रागादिक को ही; अर्थात्, शुभाशुभभाव को भला जानकर और उन्हें ही अपना स्वरूप जानकर उनमें निश्चिन्तरूप से सो रहे हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि अशुभभाव और दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि शुभभाव हैं – दोनों भाव, विकार हैं, विभाव हैं; तथापि अज्ञानी उन्हें स्वभाव जानकर, भला मानकर उनमें ही सो रहे हैं। अहा हा! अपना स्वभाव तो शुद्ध ज्ञानानन्दमय है परन्तु उसका पता नहीं है; इसलिए शुभाशुभभाव को ही स्वभाव जानते हैं।

भाई! यह शरीर, धन, लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, परिवार, महल, मकान इत्यादि की यहाँ बात नहीं है क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष परवस्तुएँ हैं। उनमें आत्मा नहीं है और आत्मा में वे नहीं हैं, तथापि अज्ञानी उन सबको अपना मानते हैं, वह उनकी विपरीतमान्यता है और वही दुःख है; अज्ञानी उनमें सुख मानता है परन्तु वहाँ रञ्चमात्र भी सुख नहीं है। जिस प्रकार कोई सन्निपात का रोगी सन्निपात में खिल–खिलाकर हँसता है; इसी प्रकार अज्ञानी को मिथ्यात्व का सन्निपात हुआ है, जिसमें वह दुःख को सुख मानता है।

**प्रश्न** – परन्तु दुनिया तो इन सब धनवन्तों को सुखी कहती है न?

**उत्तर** – बापू! दुनिया तो सब पागलों से भरी है। वे उन्हें सुखी कहते हैं, इससे क्या? वास्तव में वे मिथ्यात्वभाव से दुःखी ही हैं।



यहाँ कहते हैं कि शुभाशुभभाव / पुण्य–पाप के भाव, विभाव हैं, मलिन हैं, दुःखरूप हैं; तथापि अज्ञानी जीव उन्हें ही भला जानकर अपना स्वभाव मानकर अनादि से उनमें निश्चिन्तरूप से सो रहे हैं। बेचारों को पता नहीं है न! इसलिए निश्चिन्त होकर उनमें सो रहे हैं।

उन्हें श्रीगुरु करुणापूर्वक सम्बोधित करते हैं – जगाते हैं – सावधान करते हैं कि हे अन्ध प्राणियों! तुम जिस पद में सो रहे हो, वह तुम्हारा पद नहीं है। तुम्हारा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है, बाहर में अन्य द्रव्यों के मिलाप से रहित तथा अन्तरङ्ग में विकाररहित शुद्ध और स्थायी है। उस पद को प्राप्त होओ! शुद्ध चैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो!

देखो, श्रीगुरु प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द की मस्ती में रहनेवाले हैं। वे अन्तर में करुणा लाकर अज्ञानी जीवों को सावधान करते हैं कि अरे! क्या तुम देखते नहीं कि कहाँ सो रहे हो? हे अन्ध प्राणियों ऐसा कहा है न! यह तो सावधान करने के लिए करुणापूर्ण उद्गार हैं। यह करुणा है कि हे भाई! तू यह क्या करता है? अन्दर चिदानन्दरस से भरपूर तू भगवान है, उसे नहीं देखता और पुण्य –पाप के भाव में अपनापन मानकर सो रहा है – ऐसा अन्धपना! इस प्रकार करुणा लाकर सावधान करते हैं।

**प्रश्न** – दृष्टान्त में 'महान पुरुष' – ऐसा क्यों लिया?

**उत्तर** – महान पुरुष; अर्थात्, महा धनाढ्य, राजा, दीवान आदि महान पुरुष; अर्थात्, संसार में बड़ा। महा धर्मात्मा पुरुष – ऐसा यहाँ नहीं लेना है। राजा आदि बड़े पुरुष होते हैं, वे शराब

पीकर गुलाटियाँ खाते हुए मल-मूत्रादि से भरे स्थान में जाकर सो जाते हैं – ऐसा यहाँ कहना है। इसी प्रकार स्वभाव से महान होने पर भी अज्ञानी जीव, अनादि से मिथ्यात्वरूप शराब पीकर शुभाशुभभाव को अपना मानकर, भला जानकर उसमें सो रहा है। उन्हें श्रीगुरु सावधान करके जगाते हैं कि जाग रे जाग नाथ! तू भगवान स्वरूपी है, फिर भी इन शुभाशुभभावों में क्यों सो रहा है? शरीरादि में, अरे! शुभराग में प्रेम करके उसमें लवलीन हो जाए, वह भी मूढ़ है। अहो! श्रीगुरु महा उपकारी हैं।

भाई! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि के समस्त शुभभाव भी दु:ख हैं। अब ऐसा सुनने को भी नहीं मिला हो तो वे बेचारे क्या करें? शुभराग को ही अपना स्वभाव जानकर उसमें पड़े रहते हैं परन्तु बापू! इस प्रकार तो तू अनन्त बार दिगमबर मुनि हुआ और पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा गुप्ति इत्यादि का बाहर में एकदम सही रूप से पालन किया, परन्तु इससे क्या? संसार तो खड़ा रहा, दु:ख तो खड़ा रहा। भाई! राग अशुभ हो या शुभ, वह सब तो दु:ख ही है, उसे तू भला जानकर उसमें निश्चिन्त होकर सो रहा है परन्तु यह तो नया अन्धपना है-मूढ़ता है। आनन्द के नाथ प्रभु आत्मा को चूककर शुभभाव के प्रेम में पड़ना तो व्यभिचार है बापू! इसका फल चार गति की जेल है।

यहाँ कहते हैं कि तू जिस पद में सो रहा है; अर्थात्, जिस शुभभाव में अन्ध बनकर स्वभाव के भान बिना सो रहा है, वह तेरा पद नहीं है। भगवान! अपन कुछ ठीक हैं – ऐसा मानकर तू जिसमें सो रहा है, वह सोने का स्थान नहीं है।



किसी को ऐसा लगता है, यह कैसी बात है? इसमें धन प्राप्ति की बात तो आयी ही नहीं?

भाई! धन प्राप्ति का भाव तो अकेला पाप है। उसकी बात तो एक ओर रख, क्योंकि वह तो अपद... अपद... अपद ही है। यहाँ तो दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि की जो वृत्ति उत्पन्न हुई है, उस वृत्ति में तू निश्चिन्त होकर सो रहा है, वह भी अपद है – ऐसा कहते हैं। अहा हा! उस वृत्ति से रहित, अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु आत्मा विराजमान है, उसका निराकुल स्वाद नहीं लेता और शुभवृत्ति के मोह में अन्ध बना है। क्या तू अन्धा है भाई! यह पैसेवालों का तो क्या, बड़े व्रत और तपस्यावालों के भी गर्व उतर जाएँ – ऐसी बात है। तू नौवें ग्रैवेयक गया था, तब जो व्रत और तप पालन किये थे, वे अभी कहाँ हैं। बापू! शुक्ललेश्या के परिणाम, चमड़ी उतारकर नमक छिड़कने पर भी क्रोध नहीं करे – ऐसे महाव्रत के परिणाम तो उस समय थे परन्तु वे सब राग के, दु:ख के परिणाम थे। भाई! तू इस शुभवृत्ति में निश्चिन्त होकर सो रहा है परन्तु यह तेरा पद नहीं है; यह अपद है।

आत्मा, शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु परमात्मा है। भगवान की भक्ति आदि शुभभाव उससे विरुद्ध भाव हैं, विभाव है; इसलिए वे अपद हैं। भाई! ऐसी बात तो वीतरागशासन में ही मिल सकती है। वीतराग जैन परमेश्वर ही यह कहते हैं कि हमारे सन्मुख देखा करे और स्तुति, भक्ति, पूजा इत्यादि शुभभाव में ही तू सोता रहे तो तू मूढ़ है। क्यों? क्योंकि हम तेरे लिए परद्रव्य हैं और परद्रव्य के ओर की वृत्ति से जीव की दुर्गति होती है। मोक्षपाहुड़, गाथा 16 में कहा है कि **परदव्वादो हु दुग्गइ**; अर्थात्, परद्रव्य की ओर के झुकाव

से दुर्गति है, वह चैतन्य की गति नहीं है और **सद्दव्वादो हु सग्गइ होइ**; अर्थात्, स्वद्रव्य में झुकाव से सुगति / मुक्ति होती है।

बापू! स्वद्रव्य के अतिरिक्त जितने भी देव-गुरु-शास्त्र, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ और स्त्री, परिवार आदि परद्रव्य हैं, उनकी ओर का जो तेरा झुकाव और लक्ष्य है, वह सब शुभाशुभराग है और वह तेरी दुर्गति है प्रभु!

अहा! जगत् को सत्य मिला नहीं और यूँ ही जीवन चला जा रहा है। भाई! पुण्य से स्वर्गादिक प्राप्त हों, परन्तु वह सब दुर्गति है, उसमें कहाँ सुख है; स्वर्गादि में भी राग के क्लेश का ही भोग है। भाई! राग स्वयं पुण्य हो या पाप, वह दुःख ही है।

**प्रश्न** – तो हमें क्या करना चाहिए?

**उत्तर** – यह तो कहा है न कि **सद्दव्वादो हु सग्गइ होइ**; अर्थात्, स्वद्रव्य के प्रति झुकाव और आश्रय से सुगति अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति होती है। भाई! यही मार्ग है; दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अन्दर निर्मलानन्द का नाथ चैतन्यमूर्ति बस, राग से रहित निर्विकारी प्रभु विराजमान है। उसमें रहना और उसी में स्थिर हो जाना, आत्मा, यही एक करने योग्य है।

प्रभु! तू अन्दर आत्मा है या नहीं? तू अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत से भरपूर अकेला अमृत का सागर है, जबकि परद्रव्य के झुकाव से उत्पन्न यह इन्द्रियों का सुख तो दुःख का, जहर का प्याला है। भगवान आत्मा से विरुद्ध जो शुभविकल्प उत्पन्न होता है, वह भी जहर है। भाई! इसमें यह ठीक है – ऐसा हर्ष का भाव भी जहर है। अरे प्रभु! तू इसमें निश्चिन्त होकर सो रहा है। भगवान



यह तेरे रहने का स्थान नहीं है, यह तो अपद है; इसलिए जाग रे नाथ... जाग! तेरा पद तो अन्दर शुद्ध चैतन्यधातुमय है, वहाँ जा, उसमें निवास कर!

अहो! सन्त, निस्पृह करुणा करके जगाते हुए कहते हैं कि तू राग में एकाकार होकर सो रहा है परन्तु वह तेरा पद नहीं है। प्रभु! तेरा पद तो शुद्ध चैतन्यधातुमय है। एक ज्ञानस्वभाव से भरपूर ध्रुव नित्यानन्द स्वरूप प्रभु आत्मा शुद्ध चैतन्यधातुमय है और वह तेरा पद है। इस प्रकार शुभाशुभराग में; अर्थात्, अपद में परिभ्रमण करने जाता है, उसके बदले स्वपद में जा न! वहाँ बस न!! वहीं ठहर जा न!!! लो यह करने योग्य कार्य है।

**प्रश्न** – परन्तु जिनमन्दिर बनाना, स्वाध्यायमन्दिर बनाना, धर्मप्रभावना करना – इत्यादि करना है या नहीं?

**उत्तर** – भाई! क्या तू मन्दिर आदि बना सकता है? रञ्चमात्र भी नहीं बना सकता। सुन, आत्मा परद्रव्य का कार्य कर ही नहीं सकता; मात्र वहाँ राग करता है और वह पुण्यभाव है। ज्ञानी को भी ऐसा पुण्यभाव आता है-होता है परन्तु वह अपद है। ज्ञानी भी उसे अपद; अर्थात्, अस्थानरूप दुःखदायक ही जानता है। समकिती को साधकदशा में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग, प्रभावना आदि का राग होता अवश्य है परन्तु वह अपद है। एकमात्र प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप शुद्ध चैतन्यमय परमात्मा, स्वयं ही स्वपद है।

अहा! भगवान! तेरा पद तो शुद्धचैतन्यधातुमय है। 'शुद्ध चैतन्यधातुवाला' ऐसा भी नहीं; शुद्धचैतन्यधातुमय है – इसका क्या आशय है? आशय यह है कि कर्म, शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ

इत्यादि बाह्य में अन्य द्रव्य की मिलावट से रहित तेरी वस्तु शुद्ध है क्योंकि वे सर्व परद्रव्य तुझमें है ही नहीं तथा अन्दर में रागादि विकाररहित तेरी वस्तु निर्विकार शुद्ध है। भाई! जो तेरा स्वपद है, वह चिदानन्दघनप्रभु आत्मा, बाहर में अन्य द्रव्य की मिलावट से रहित और अन्दर में पुण्य-पापभाव के विकार से रहित सदा ही शुद्ध है। ऐसा अकेला चैतन्य... चैतन्य... चैतन्यमात्र जो है, वह तेरा अविनाशी पद है; इसलिए दृष्टि बदल दे और स्वपद में रुचि कर, स्वपद में निवास कर!

अहा! अनाकुल शान्तरस का पिण्ड प्रभु आत्मा शुद्ध ज्ञायक तत्त्व है, जबकि अन्तरङ्ग में; अर्थात्, पर्याय में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पाप के भाव, शुभाशुभभाव आस्रवभाव हैं। वे आस्रवभाव एक ज्ञायकभाव से विरुद्ध और दुःखरूप होने से नाश करने योग्य हैं और एक ज्ञायकभाव ही आश्रय करने योग्य है। क्यों? इसलिए कि ज्ञायकस्वभाव का आश्रय करने से आस्रव के अभावरूप संवर, निर्जरा और मोक्ष प्रगट होते हैं। इसलिए कहा कि अपने शुद्ध ज्ञायकस्वभाव का आश्रय कर, उसमें ही स्थिर हो, उससे ही प्राप्त कर!

वह शुद्ध चैतन्यधातु स्थायी है, यह शुभाशुभभाव तो अस्थायी नाशवन्त, कृत्रिम और दुःखरूप है; जबकि ज्ञायकमूर्ति प्रभु आत्मा सदा स्थायी, अविनाशी, अकृत्रिम और सुखधाम है। अब, ऐसा मैं आत्मा हूँ - यह सुनने को भी नहीं मिले, वह बेचारा अज्ञानी क्या करे? धर्म मानकर दया-दानादि करे, परन्तु उसमें धर्म कहाँ है? बेचारा क्रियाकाण्ड करके मर जाता है और चार गतियों में परिभ्रमण करता है। क्यों? इसलिए कि पुण्य-पाप के भाव अस्थायी हैं,



दुःखरूप हैं; एकमात्र चैतन्यपद ही त्रिकाल स्थिर और सुखरूप हैं।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि उस पद को प्राप्त होओ; अर्थात्, शुद्धचैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो। अहा! भाषा तो देखो! कहते हैं कि अनन्त काल में तूने एकमात्र राग का ही आश्रय किया है; इसलिए तू दुःख में पड़ा है किन्तु अब शुद्धचैतन्यमूर्ति, ज्ञायकमूर्ति प्रभु आत्मा का आश्रय कर, क्योंकि वह तेरा निजपद है, सुखपद है। भाई! भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो अत्यन्त गम्भीर है।

भाई! त्रिलोकनाथ तीर्थङ्कर परमात्मा का यह अनादि-अनन्त पुकार है। भूतकाल में अनन्त तीर्थङ्कर हो गये हैं, वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में तीर्थङ्कर विराजमान हैं और भविष्य में अनन्त तीर्थङ्कर होंगे। उन सबका एक ही पुकार है कि भाई! तुझे सुख अपेक्षित हो तो अन्तर में जा! अन्तर में सुख का निधान ज्ञायकमूर्ति चैतन्य महाप्रभु परमात्मस्वरूप से विराजमान है, उसमें जा... उसका आश्रय कर। तुझे अपने निजानन्द पद की प्राप्ति हो जाएगी। तू राग में जाता है, वह तो दुःख ही है - ऐसी बात है प्रभु!

**प्रश्न** - आप, शुभराग में से-पुण्य में से हटाकर कहाँ ले जाना चाहते हो?

**उत्तर** - भाई! देवाधिदेव सिद्ध परमात्मा का जो पद है, वही निश्चय से तेरा पद है। तुझे शुभराग में से पुण्यभाव में से खींचकर प्रभु में ले जाना है प्रभु! इसीलिए तो कहा है कि अन्दर तीन लोक का नाथ प्रभु स्वरूप विराज रहा है, उसका आश्रय कर और देख कि अनन्त सुखपद, सिद्धपद, वह तेरा पद है। ●

*[ -प्रवचनरत्नाकर, ( गुजराती ) भाग-7, पृष्ठ 130-141 ]*
*[ समयसार कलश 138 पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन ]*

# 12. मुमुक्षु का मङ्गल अभिप्राय

दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्मा की आराधना से ही (आत्मा की) सिद्धि होती है, इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से सिद्धि नहीं होती; इसलिए दर्शन-ज्ञान-चारित्र से आत्मा की उपासना करना, यह मोक्षार्थी जीव का प्रयोजन है। चैतन्य की प्राप्ति करना ही जिसका मङ्गल अभिप्राय है – ऐसा मोक्षार्थी जीव, मुक्ति के लिए प्रथम तो ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहचान करके उसकी श्रद्धा करता है। यह चेतनस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ और इसके सेवन से पूर्ण सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी – ऐसी निशङ्क श्रद्धापूर्वक उसमें लीनता हो सकती है।

जो शिष्य, मोक्ष की झङ्कार बजाता हुआ आया है, वह मङ्गल अभिप्रायवाला शिष्य सर्व प्रकार से प्रयत्नपूर्वक आत्मा को जानता है, श्रद्धा करता है और फिर उसमें स्थिरता का उद्यम करता है; उसे छूटने की बात ही रुचिकर लगती है। श्रवण में, मनन में, शास्त्र पठन में सर्वत्र वह छूटकारे की बात ही खोजता है।

पहली बात तो यह है कि आत्मा को जानना चाहिए। जहाँ वास्तविक ज्ञान किया, वहाँ 'ऐसा आत्मा मैं' – ऐसी निशङ्क श्रद्धा भी हुई। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करनेवाले को राग का अभिप्राय नहीं है, संसार का अभिप्राय नहीं है; एकमात्र चैतन्य की प्राप्ति का ही मङ्गल अभिप्राय है, बन्धन से छूटने का ही अभिप्राय है।

जिस प्रकार धन की प्राप्ति का अभिलाषी राजा को पहचान कर, उसकी श्रद्धा करके, महा-उद्यमपूर्वक उसका सेवा करके उसे रिझाता है। विनय से, भक्ति से, ज्ञान से, सर्व प्रकार से सेवा करके, राजा को रिझा कर प्रसन्न करता है; इसी प्रकार मोक्षार्थी जीव, अन्तर्मुख प्रयत्न से प्रथम तो आत्मा को जानता है और श्रद्धा करता है। ज्ञान द्वारा जो आत्मा की अनुभूति हुई, वह अनुभूति ही मैं हूँ – ऐसे आत्मज्ञानपूर्वक प्रतीति करता है और तत्पश्चात् आत्मस्वरूप में ही लीन होकर आत्मा को साधता है – यह आत्मा को साधने की विधि है।

आबाल-गोपाल अर्थात् बालक से लेकर वृद्ध तक सबको यह आत्मा ज्ञानस्वरूप ही अनुभव में आता होने पर भी भेदज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानी जीव उसे राग के साथ एकमेक अनुभव करता है। आत्मा को रागमय मानकर, रागवाला ही अनुभव करता है; इस कारण उसे आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र उदयगत नहीं होते। इस प्रकार उसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती।

ज्ञानी धर्मात्मा, सम्यक् अभिप्राय से आत्मा को राग से भिन्न अनुभव करते हैं। ऐसे अनुभव के बिना किसी प्रकार आत्मा की सिद्धि नहीं होती; इसलिए पहले अन्तर्मुख पुरुषार्थ द्वारा आत्मा को सम्यक् प्रकार से जानकर उसका, श्रद्धान और अनुभव करना – ऐसा भगवान सन्तों का मङ्गल आशय है। ज्ञानस्वभाव की सेवा, उपासना, आराधना करने का ही सन्तों का उपदेश है। जब पर्याय को अन्तर्मुख करके ज्ञानस्वभाव के साथ एकाकार करे और राग से

पृथक् होकर ज्ञान का अनुभव करे, तब ज्ञान की उपासना की गयी कहलाती है।

आत्मा ज्ञानस्वरूपी होने पर भी ज्ञान की ऐसी उपासना उसने पूर्व में एक क्षण के लिए भी नहीं की है। राग में तन्मय होकर अज्ञान का ही सेवन किया है, अनात्मा की ही सेवा की है। ज्ञान की सेवा तो तब होती कि जब अन्तर में राग से पृथक् पड़कर ज्ञानस्वभाव को पहचान कर श्रद्धा और अनुभव में ले।

मुमुक्षु का मङ्गल अभिप्राय और मङ्गल कामना यह है कि राग से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का सदा सेवन करना अर्थात् निरन्तर –सतत् अनुभव करना – यही सिद्धि का पन्थ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम आत्मा को निरन्तर चैतन्यस्वरूप अनुभव कर रहे हैं और दूसरे जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे भी निरन्तर उसका अनुभव करते हैं। हे मुमुक्षु जीवों! तुम भी आत्मा को सर्व प्रयत्न से जानकर, श्रद्धा में लेकर, उसका अनुभव करो। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 56-57 ]*

# 13. आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही ज्ञानियों को सम्मत

श्रीमद् राजचन्द्रजी एक पत्र में लिखते हैं कि ज्ञानियों ने सम्मत किया हुआ सब सम्मत करना। ज्ञानियों को क्या सम्मत है? आत्मस्वभाव में अभेददृष्टि ही सर्व ज्ञानियों को सम्मत है। इसके अतिरिक्त किसी राग से धर्म होता है अथवा शरीर की क्रिया आत्मा करता है, यह बात किसी ज्ञानी को सम्मत नहीं है।

**'अनन्त काल से अपने को, अपने सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है।'** यह श्रीमद् का तेईसवें वर्ष का लेख है। आत्मा अनन्त काल से है और इस शरीर का सम्बन्ध नया हुआ है किन्तु आत्मा नया नहीं होता। आत्मा स्वयं कौन है? – इस बात का उसे अनन्त काल से पता नहीं है। मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? – इस सम्बन्ध में ही भ्रान्ति रह गयी है। मानो मेरा सुख बाहर में हो – ऐसा यह मानता है; इसलिए अपने विषय में ही भ्रान्ति है। देखो! देव-शास्त्र-गुरु के विषय में भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा नहीं कहा है, क्योंकि सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को माना है परन्तु अपने आत्मा के विषय में रही हुई भ्रान्ति का अभाव नहीं किया है। देखो, पर के विषय में भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा भी नहीं कहा गया है परन्तु स्व कौन है? इस विषय में भ्रान्ति रह गयी है।

यह जीव, निज आत्मा को भूलकर पर से लाभ मान रहा है; इसलिए उपादानस्वभाव में भ्रान्ति रह गयी है किन्तु निमित्त में भूल रह गयी है – ऐसा नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो व्यवहार के सम्बन्ध में तो भूल का अभाव किया, किन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है ? यह नहीं जाना; इसलिए निश्चय सम्बन्धी भूल का कभी अभाव नहीं किया। अज्ञानी जीव, पुण्य को आत्मा का स्वरूप माने तो वह भी आत्मा के विषय में भ्रान्ति है। जीव ने अनन्त काल में दूसरा सब किया है परन्तु आत्मा का स्वभाव क्या है ? – इस विषय में भ्रान्ति का अभाव कभी नहीं किया; इसलिए अपने विषय में ही भ्रान्ति रह गयी है।

स्वयं अर्थात् कौन ? देखो, अपने को विकारवाला माना – यह भी भ्रान्ति है क्योंकि आत्मा, क्षणिक विकार जितना नहीं है; उसका स्वभाव तो विकाररहित है, उस स्वभाव के विषय में भ्रान्ति रह गयी है। जीव ने अनन्त बार शुभभाव किया है किन्तु भ्रान्तिरहित होकर शुद्धात्मा को कभी नहीं जाना है।

यह एक अवाच्य अद्भुत विचार का स्थल है। वाणी से नहीं कहा जा सके – ऐसा अद्भुत विचार का यह स्थल है। यहाँ आत्मस्वभाव के विचार की अपूर्वता बतलायी जा रही है। ऐसा क्या बाकी रह गया कि अनन्त-अनन्त काल व्यतीत होने पर भी भ्रान्ति का अभाव नहीं हुआ ? अनन्त काल में त्याग-व्रत इत्यादि किया, परन्तु आत्मस्वभाव की विचारधारा का स्थल बाकी रह गया। अपने को अपने विषय में क्या भ्रान्ति रह गयी ? – यह एक अद्भुत विचार का स्थल है।



भाई! जीव, दूसरे सब विचारों में तो चतुराई करता है परन्तु आत्मा का यथार्थ विचार कभी नहीं करता। पहले आत्मस्वभाव की बात करके फिर उसके निमित्त भी बतलायेंगे और अनन्त काल की यह भ्रान्ति कैसे मिटे ? – उसका उपाय भी बताएँगे।

'जहाँ मति की गति नहीं है, वहाँ वचन की गति कैसे हो सकती है ?' यहाँ मति अर्थात् पर सन्मुख ढला हुआ ज्ञान। पर तरफ के विकल्प द्वारा भी जो आत्मा को नहीं बतलाता, उस आत्मा को वाणी से तो कैसे कहा जा सकता है ? मति अर्थात् पर तरफ के ज्ञान का उघाड़ अथवा पर तरफ के झुकाववाला ज्ञान – ऐसा अर्थ यहाँ समझना चाहिए। सम्यक्मतिज्ञान द्वारा तो आत्मा ज्ञात होता है परन्तु परसन्मुखता के झुकाववाले ज्ञान के विकास से आत्मा ज्ञात नहीं होता है। इस प्रकार पहले तो उपादानस्वभाव की बात की और अब, अनन्त काल से चली आ रही उस भ्रान्ति को मिटाने के लिए अन्तर-स्वभावसन्मुख झुकने के लिए क्या करना चाहिए ? – यह बात कहते हैं।

**'निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करना।'** देखो, यहाँ 'निरन्तर' कहा है। जैसे, बादाम में से तेल निकालना हो तो उसे निरन्तर घिसना चाहिए। थोड़ी से घिसकर फिर दूसरे काम में लग जाए और फिर घिसने लगे; इस प्रकार क्रम-क्रम से घिसे तो तेल नहीं निकलेगा। इसी प्रकार यहाँ निरन्तर उदासीनता के क्रम का सेवन करने के लिए कहा है। पर के प्रति कुछ रुचि घटे, तब तो अन्तर के विचार की ओर ढलेगा न! पर के प्रति वैराग्यदशा लाकर अन्तर की विचारधारा में निरन्तर रुकना चाहिए।

यहाँ निरन्तर पर के प्रति उदासीनता का सेवन करने के लिए कहा तो क्या खाना-पीना इत्यादि कुछ नहीं करना ? यदि ऐसा कोई पूछे तो उससे कहते हैं कि भाई ! जिस प्रकार व्यापार का लोलुपी जीव सो रहा हो या खा रहा हो, परन्तु साथ ही साथ उसे लोलुपता का भाव तो पड़ा ही है; इसी प्रकार धर्म की रुचिवाले को नींद में भी पर के प्रति उदासीनता का भाव मिटता नहीं है। धर्म की रुचिवाला उदासीनता के क्रम में भङ्ग नहीं पड़ने देता; खाना-पीना अथवा व्यापार इत्यादि का राग वर्तता होने पर भी अन्तर की रुचि में उसके प्रति उदासीनता एकक्षण के लिए भी नहीं मिटती है।

अब, भ्रान्ति टालने के निमित्त की पहचान कराते हुए कहते हैं कि '**सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना।**' पहले, सत्पुरुष कौन है ? – यह पहचानना चाहिए। देखो, पहचान की जिम्मेदारी स्वयं की है। सत्पुरुष किसे कहा जाता है ? यह जानने का स्वयं का भाव है। अरे ! दो पैसे का घड़ा लेने जाएँ तो भी ठोक-बजाकर परीक्षा करते हैं तो अनन्त काल की भ्रान्ति मिटाकर आत्मा का कल्याण प्रगट करने के लिए सत्पुरुष की परीक्षा करके पहचानना तो चाहिए। सत् अर्थात् आत्मस्वभाव; जिन्हें आत्मस्वभाव की पहचान हुई है, वे सत्पुरुष हैं। संसार के प्रति निरन्तर उदास होना और सत्पुरुष की भक्ति के प्रति लीन होना, यह दो बातें कही गयी हैं।

अब, विशेष कहते हैं – '**सत्पुरुषों के चरित्रों का स्मरण करना।**' पहले जिसका ज्ञान किया हो, उसका स्मरण किया जा सकता है। सत्पुरुष का चरित्र किसे कहा जाता है ? इसके ज्ञान बिना उनका स्मरण किस प्रकार किया जा सकता है ? सत्पुरुष का



चरित्र कहाँ रहता होगा ? किसी बाहर की क्रिया में अथवा शुभाशुभराग में सत्पुरुषों का चरित्र नहीं है। बाहर में परिवर्तन न दिखने पर भी धर्मी की अन्तरदशा में रुचि का झुकाव स्वभावसन्मुख हो गया है। जिस प्रकार छोटे हीरे की कीमत लाखों रुपये होती है, उसे जौहरी ही जानता है; इसी प्रकार आत्मा का चरित्र अन्तरदृष्टि से ही पहचाना जाता है।

धर्मी आत्मा का चरित्र क्या ? वह शरीर की दशा में अथवा वस्त्र में नहीं है। आहारशुद्धि में अथवा वस्त्र के त्याग में भी चारित्र नहीं है, वह सब तो अज्ञानी को भी होता है। सत्पुरुष के अन्तर में क्या भेद पड़ गया है ? – यह जाने बिना उनके चरित्र का ज्ञान नहीं होता। सत्पुरुष का आन्तरिक चारित्र क्या ? 'अमुक गाँव में रहते थे और जवाहरात का व्यापार करते थे, जिज्ञासुओं को पत्र लिखते थे अथवा उपदेश देते थे' – क्या इसमें सत्पुरुष का चरित्र है ? यह सब तो बाह्य वस्तुएँ हैं, इनमें सत्पुरुष का चरित्र नहीं है परन्तु अन्तर के स्वभाव को जानकर वहाँ स्थिर हुआ है और रागादिभावों की रुचि मिट गयी है, यही सत्पुरुषों का चरित्र है। उसे पहचानने पर ही उसका वास्तविक स्मरण होता है।

और कहते हैं कि '**सत्पुरुषों के लक्षणों का चिन्तवन करना**' 'ऐसी भाषा थी और ऐसा शरीर था' – इस प्रकार शरीर के लक्षणों से सत्पुरुष नहीं पहचाने जाते। अन्तरस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता ही सत्पुरुष का लक्षण है। बाहर में त्याग हुआ अथवा शुभराग हुआ, वह सत्पुरुष का वास्तविक लक्षण नहीं है। जो शरीर दिखता है, वह देव-गुरु नहीं है, वह तो जड़ है; देव अथवा गुरु तो आत्मा हैं और अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रस्वरूप,

वही उसका लक्षण है; उस लक्षण द्वारा सत्पुरुष को पहचानने से अपना आत्मा भी वैसा होता है।

लक्षण उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा लक्ष्य की पहचान होती है। सत्पुरुष में ऐसा क्या लक्षण है कि जो दूसरों में न हो और उनमें ही हो? सत्पुरुष की आन्तरिक श्रद्धा-ज्ञान ही उनका लक्षण है; रागादि होते हैं, वह सत्पुरुष का लक्षण नहीं है। इस प्रकार लक्षण से सत्पुरुष को पहचानकर उसका चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार अन्तर की बात करके, अब बाह्य की बात करते हैं। **'सत्पुरुषों की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन करना, उनके मन-वचन-काया की प्रत्येक चेष्टा के अद्भुत रहस्य पुनः-पुनः निरीक्षण करना।'** शरीर-मन-वाणी की क्रिया तो जड़ है परन्तु उसके पीछे अनाकुलस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान है, उसका अद्भुत रहस्य है। मन-वचन-काया की जो प्रवृत्ति होती है, उसका कर्तापना धर्मी को मिट गया है। धर्मी को उनमें कभी सुखबुद्धि नहीं होती और कभी भेदज्ञान का अभाव नहीं होता - ऐसा ज्ञानी का अद्भुत रहस्य है, वह बारम्बार विचारणीय है। सत्पुरुष की मुखाकृति का हृदय से अवलोकन और बारम्बार उनके समागम की भावना में स्वयं को सत् समझने की रुचि है।

अब कहते हैं कि **'उनका सम्मत किया हुआ, सब सम्मत करना।'** ज्ञानियों ने क्या सम्मत किया है? आत्मा के स्वाश्रय के अतिरिक्त तीन काल में धर्म नहीं है अर्थात् स्वाश्रयभाव ही ज्ञानी को सम्मत है। पर का आश्रय करना, वह ज्ञानी को सम्मत नहीं है। आत्मा का ज्ञानस्वभाव, रागरहित है; उसकी रुचि, उसकी श्रद्धा,



उसका ज्ञान और उसका आश्रय करना ही ज्ञानियों को सम्मत है। इस प्रकार पहचानकर ज्ञानियों के द्वारा सम्मत किया हुआ सब सम्मत करना।

शुभ अथवा अशुभरूप किसी भी पराश्रितभाव से आत्मा को धर्म होता है - ऐसी मान्यता ज्ञानियों को सम्मत नहीं है। जिस भाव से आत्मा को हानि होती है, वह एक भी भाव, ज्ञानी को सम्मत नहीं होता। ज्ञानी को आत्मा का विकाररहित स्वभाव ही सम्मत है।

देखो, एक ज्ञानी एक मार्ग बतलाये, दूसरा ज्ञानी दूसरा मार्ग बतलाये - ऐसा कभी नहीं होता। सभी सत्पुरुषों का एक ही मार्ग है। वह यह कि आत्मस्वभाव को पहचानकर, उसका आश्रय करना ही मुक्ति का पन्थ है और इसी मार्ग में समस्त ज्ञानियों की सम्मति है; इस प्रकार पहचानकर ज्ञानियों के द्वारा सम्मत किया हुआ, सर्व सम्मत करना चाहिए।

ज्ञानी के समीप सत् का श्रवण करते हुए जितना अपने को रुचे उतना मान ले और दूसरी बात नहीं रुचे तो उस जीव ने ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ सर्व सम्मत नहीं किया है किन्तु अपने स्वच्छन्द का पोषण किया है। देव-गुरु-शास्त्र के आश्रय से होनेवाले पुण्यभाव का आश्रय करना धर्मी को मान्य नहीं है, अपितु उसका आश्रय छोड़ना ज्ञानियों को मान्य है।

ज्ञानियों द्वारा मान्य किया हुआ सर्व मान्य करना। उसमें यदि कहीं अपनी कल्पना का स्वच्छन्द रखा तो उसने ज्ञानियों को पहचाना ही नहीं और न उनका कहना माना है। जीव ने अभी तक अपनी भ्रान्ति से ही अर्थात् अपनी दृष्टि से ही ज्ञानी को पहचाना

है। यदि ज्ञानी को ज्ञानी के प्रकार से पहचाने तो उसे भेदज्ञान और मुक्ति हुए नहीं रह सकती है। ज्ञानी की पहचान करने में पर की महिमा नहीं, किन्तु अपने आत्मा की महिमा है। पहले तो अनन्त काल से आत्मा की भ्रान्ति रह गयी है – ऐसा पहचानना और फिर ऊपर कहे अनुसार, पात्र होकर सत्पुरुष को पहचानना; इससे अवश्य आत्मा की भ्रान्ति मिट जाएगी।

ज्ञानी यह नहीं कहते कि तू हमारा आश्रय करके रुक जा! ज्ञानी के हृदय का रहस्य तो यह है कि तू अपने आत्मा को सिद्ध समान परिपूर्ण स्वभावरूप पहचानकर उसका आश्रय कर! सभी धर्मात्माओं ने यही सम्मत किया है और यही सम्मत करने योग्य है अर्थात् उत्साहपूर्वक माननेयोग्य है।

**'यह ज्ञानियों ने हृदय में रखा हुआ निर्वाण के लिए मान्य रखने योग्य, पुनः-पुनः चिन्तवन योग्य, प्रति क्षण-प्रति समय लीन होने योग्य परम रहस्य है और यही सर्व शास्त्रों का, सर्व सन्तों के हृदय का, ईश्वर के घर का मर्म पाने का महामार्ग है।'** देखो तो सही, कितनी दृढ़तापूर्वक बात की है! धर्मी जीवों ने जो मान्य किया है, वही मान्य रखना, यह परम रहस्य है। धर्मी जीवों ने क्या मान्य किया; किसका ग्रहण और किसका त्याग किया? – यह पहचाने बिना स्वयं उसकी श्रद्धा किस प्रकार करेगा और उसका चिन्तवन भी किस प्रकार करेगा?

ज्ञानियों को भलीभाँति पहचानकर, उनके मानने अनुसार आत्मा के वीतरागी स्वभाव का आश्रय करना; सर्व शास्त्रों का और सर्व सन्तों के हृदय का मर्म प्राप्त करने का यह एक ही मार्ग है। निर्वाण



के लिए अर्थात् आत्मा की मुक्ति के लिए मान्य करने योग्य यही महामार्ग है तथा ईश्वर के घर का अर्थात् सर्वज्ञ भगवान के मार्ग का अथवा आत्मा के स्वभाव का मर्म प्राप्त करने का यह महामार्ग है, यह आत्मा के परमपद प्रगट होने का महामार्ग है।

अब, निमित्तपने की बात करते हैं – **'और इन सबका कारण किसी विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति और उनके प्रति अविचल श्रद्धा है। अधिक क्या लिखना? त्रिकाल यह एक ही मार्ग है।'** इस प्रकार वजनपूर्वक कहते हैं कि भाई! तुझे अपने स्वरूप की ही भ्रान्ति है, उस भ्रान्ति का अभाव किये बिना छुटकारा नहीं है और उस भ्रान्ति का अभाव करने के लिए ज्ञानियों ने जो सम्मत किया है, वही सम्मत करना – यही मार्ग है। यह मार्ग सूझने पर ही सर्व सन्तों के हृदय को पाया जा सकता है तथा यहाँ विद्यमान पुरुष की प्राप्ति होने की बात कही गयी है; पूर्व में हो गये सत्पुरुष नहीं, परन्तु अपने को साक्षात् विद्यमान सत्पुरुष की प्राप्ति हो और उनके वचन का सीधा श्रवण करते हुए, उनके प्रति अविचल श्रद्धा जागृत हो तो जीव का हित होता है। यह समझे बिना सत्पुरुष को मानने की बात नहीं है परन्तु सत्पुरुष को पहचानकर जैसा वे कहते हैं, वैसे निरालम्बी निज आत्मस्वभाव की पहचान करनेवाले ने सन्तों के द्वारा माना हुआ, माना कहलाता है और यही जिनवाणी का मार्ग है।

अन्त में स्वयं को शामिल करते हुए कहते हैं कि **'सर्व प्रदेशों से मुझे तो यही सम्मत है!'** आत्मा के असंख्य प्रदेश में मुझे तो यही मान्य है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 129-135 ]*

*[ श्रीमद् राजचन्द्र के विशिष्ट वचनामृतों पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन ]*

# 14. आत्मानुभव के लिए आत्मा की धगश और उमङ्ग

जिसे आत्मा की वास्तविक धगश जगती है, उस जीव की दशा कैसी होती है और आत्मानुभव के लिए पात्र जीव को कैसी उमङ्ग होती है? - यह बात **पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी** ने अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत की है।

आत्मार्थी जीव को सम्यग्दर्शन से पूर्व स्वभाव समझने के लिए इतना तीव्र रस होता है कि ज्ञानी के समीप, स्वभाव सुनते ही उसे ग्रहण करके अन्दर में उतर जाता है... आत्मा में परिणम जाता है... अहो! मेरा ऐसा स्वभाव, गुरु ने मुझे बतलाया; इस प्रकार गुरु का उपदेश आत्मस्पर्शी हो जाता है।

जिस प्रकार कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है अथवा तमतमाते हुए लोहे पर पानी बूँद गिरते ही वह चूस लेता है; इसी प्रकार जिसे तीव्र आत्म जिज्ञासा जगी है और जो दु:ख से अति संतप्त है – ऐसे आत्मार्थी जीव को श्रीगुरु से आत्मशान्ति का उपदेश प्राप्त होते ही, वह उसे चूस लेता है अर्थात् वह तुरन्त ही उस उपदेश को आत्मा में परिणमित कर लेता है।



आत्मार्थी को स्वभाव की जिज्ञासा और छटपटाहट ऐसी उग्र होती है कि 'स्वभाव' सुनते ही सीधा हृदय में उतर जाता है... अरे! 'स्वभाव' कहकर ज्ञानी क्या बतलाना चाहते हैं? इसी का मुझे ग्रहण करना है। इस प्रकार उसे रोम-रोम में स्वभाव के प्रति उत्साह जागृत होता है और परिणति का वेग स्वसन्मुख होता है। वह ऐसा पुरुषार्थ करता है कि स्वभाव प्राप्त करके ही रहता है। जब तक स्वभाव की प्राप्ति न हो, तब तक उसे चैन नहीं पड़ती।

जब ऐसी दशा हो, तब आत्मा की सच्ची धगश कहलाती है और ऐसी दशावाला जीव अन्तर-परिणति में आत्मा को प्राप्त करके ही रहता है। जहाँ तक ऐसा अन्तर-परिणमन न हो, वहाँ तक अपनी आत्मार्थ की कचास / कमजोरी समझकर अत्यन्त अन्तरशोध करके आत्मार्थ की उग्रता करता है।

अनुभव के लिए मङ्गल उमङ्ग से आत्मार्थी शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवान! पक्षातिक्रान्त का क्या स्वरूप है? पक्षातिक्रान्त जीव कैसा होता है? उसकी अनुभूति कैसी होती है? देखो, निर्विकल्प आनन्द के अनुभव के लिए शिष्य को मङ्गल उमङ्ग उत्पन्न हुई है... ऐसे अनुभव की उमङ्गपूर्वक उत्पन्न होनेवाला यह प्रश्न भी मङ्गल है... गुरु के प्रति अत्यन्त आस्था और अनुभव की उत्कण्ठा है... अनुभव के किनारे आकर गुरु से पूछता है – अहो! निर्विकल्प अनुभव का क्या स्वरूप है और अनुभव की विधि क्या है? पक्षातिक्रान्त होने के लिए किनारे पर खड़ा है – ऐसे शिष्य का हृदय भी मङ्गल है और वह ऐसा अनुभव करने के लिए मङ्गल प्रश्न पूछता है। उसके उत्तर में आचार्यदेव समयसार, गाथा 143 में निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप बतलाते हैं।

**नयद्वयकथन जाने हि केवल समय में प्रतिबद्ध जो।**
**नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन वो॥**

देखो, यह महा उत्तम गाथा है। सम्यक्श्रुतज्ञानी को अनुभव के काल में केवली भगवान के साथ रखा है। चौथे गुणस्थान के धर्मात्मा भी अनुभव के काल में केवली भगवान के समान पक्षातिक्रान्त हैं। जिस प्रकार केवली भगवान कोई विकल्प नहीं करते; उसी प्रकार श्रुतज्ञानी धर्मात्मा भी किसी विकल्प को उपयोग के साथ एकमेक नहीं करते।

अहा! ऐसी अनुभूति में कैसे आनन्द का स्वाद आता है? उसे धर्मी ही जानता है। धर्मात्मा, अनुभूति में चिदानन्दतत्त्व का ही ग्रहण करते हैं; विकल्पमात्र का ग्रहण नहीं करते; मात्र जानते ही हैं। देखो, 'विकल्प को जानते हैं' – ऐसा कहा, परन्तु अनुभव के काल में कहीं विकल्प की ओर उपयोग नहीं है। उपयोग को विकल्प से भिन्न ही अनुभव करते हैं। उस उपयोग के साथ विकल्प को किञ्चित्मात्र भी एकमेक नहीं करते; इसलिए कहा है कि विकल्प को जानते हैं किन्तु ग्रहण नहीं करते। जिसमें चैतन्य की शान्ति का स्वाद नहीं आता, उससे क्या प्रयोजन है? पर से तो आत्मा के प्रयोजन की कुछ सिद्धि ही नहीं होती; बाहर के राग से भी कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता और अन्दर 'मैं शुद्ध हूँ' इत्यादि विकल्पों से भी चैतन्य के अनुभव का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। धर्मात्मा समस्त विकल्पों के पक्ष का उल्लङ्घन करके चैतन्य का ही अनुभव करते हैं, उसका यह वर्णन है।

इस प्रकार भगवान, केवलज्ञान द्वारा समस्त नयपक्षों को मात्र जानते ही हैं परन्तु अपने में उन नयपक्ष के विकल्पों का किञ्चित् भी ग्रहण नहीं करते। इसी प्रकार श्रुतज्ञानी को भी स्वसन्मुखता में स्वभाव के ग्रहण का ही उत्साह है और विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है। केवली भगवान तो श्रुतज्ञान की भूमिका का ही उल्लङ्घन कर गये हैं; इसलिए उन्हें तो विकल्प का अवकाश ही नहीं है और यद्यपि श्रुतज्ञानी को श्रुतज्ञान की भूमिका है तो भी उस भूमिका में उत्पन्न होनेवाले विकल्प के ग्रहण का उत्साह छूट गया है। ज्ञान, विकल्प के आश्रय से छूटकर, स्वभाव के आश्रय में लग गया है। भगवान सर्वज्ञदेव सदा विज्ञानघन हुए हैं और श्रुतज्ञानी भी अनुभव के काल में विज्ञानघन हुए हैं; इसलिए वे भी पक्षातिक्रान्त हैं। श्रुतज्ञानी की ऐसी आत्मदशा होती है – वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।



भाई! निमित्त के आश्रय से लाभ होता है, यह बात तो कहीं रही, परन्तु शान्तरस के पिण्ड चैतन्य को अन्दर के शुद्धनय के विकल्प के आश्रय से भी किञ्चित् लाभ नहीं है। अन्दर में चैतन्य की साक्षात् अनुभूति का रास्ता कोई अलग है। चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ होकर शान्तरस के वेदन की दशा में किसी विकल्प का भी पक्ष नहीं रहता – इसी का नाम पक्षातिक्रान्त समयसार है; यही निर्विकल्प प्रतीतिरूप परिणमित हुआ परम-आत्मा है; यही ज्ञानभाव से परिणमित होने से ज्ञान-आत्मा है; यही विकल्प से भिन्न चैतन्य ज्योतिरूप है; यही अनुभव में भगवान की आत्मा की प्रसिद्धि है। विकल्प में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं थी और निर्विकल्प अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि हुई है – ऐसी अनुभूतिस्वरूप शुद्धात्मा ही समयसार है।

अहो! पहले चैतन्य के अनुभव की यह विधि भलीभाँति

लक्ष्य में लेकर दृढ़ निर्णय करना चाहिए। जो मार्ग का सच्चा निर्णय भी न करे, उसे अनुभव कैसे हो सकता है? लक्ष्य करके प्रयोग करने से परिणमन होता है। यह एक ही अनुभव की विधि है, दूसरी कोई विधि नहीं है। अनादि से नहीं प्राप्त किया हो, वह इस विधि से ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। इसी विधि से नरक में भी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है; स्वर्ग में, मनुष्य में अथवा तिर्यञ्च में भी इसी विधि से सम्यग्दर्शन और आत्मानुभव प्राप्त होता है।

नरक-स्वर्गादि में जातिस्मरण इत्यादि को सम्यक्त्व प्राप्ति में कारण कहा है, वह उपचार से है परन्तु वह नियम से कारण नहीं है। अरे! जब विकल्प भी साधन नहीं है तो फिर बाहर का कौन साधन हो सकता है? 'मैं सच्चिदानन्द शुद्ध परमात्मा हूँ' - ऐसा विकल्प भी वास्तव में परलक्ष्यी, पराश्रितभाव है; वह भी अनुभव का साधन नहीं है। श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करना ही एकमात्र अनुभव का साधन है। जब विकल्पातीत होकर चैतन्य का अनुभव करे, तब श्रुतज्ञानी भी केवली भगवान की तरह पक्षातीत अर्थात् विकल्पातीत है, वह भी वीतराग जैसा ही है।

* जो जीव एकान्त एक नय को पकड़कर, नयपक्ष के विकल्प में ही अटकता है किन्तु विकल्प से पृथक् होकर, ज्ञान को स्व-सन्मुख नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

* विकल्प से भिन्न पढ़कर, स्वसन्मुखरूप से जिसने चैतन्य का अनुभव किया है, प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा ज्ञान और विकल्प को भिन्न कर दिया है, उस ज्ञानी को जब निर्विकल्प अनुभव का काल नहीं होता, तब नयपक्ष के जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह मात्र



चारित्रमोह का राग है किन्तु धर्मी को उन विकल्पों के ग्रहण का उत्साह नहीं है; वह विकल्प को साधन नहीं मानता और उनका कर्ता भी नहीं होता। उसका ज्ञान विकल्प से भिन्नरूप परिणमित होता है और -

* जब नयपक्ष सम्बन्धी समस्त विकल्पों से पार होकर स्वसंवेदन द्वारा ध्यान में हो, तब तो श्रुतज्ञानी भी वीतराग जैसा ही है। अबुद्धिपूर्वक के विकल्प भले ही पड़े हों, परन्तु उसके उपयोग में किसी विकल्प का ग्रहण नहीं है और निर्विकल्प अनुभव में अकेले परमानन्द का ही अनुभव करता है।

देखो भाई! आत्मा के अनुभव का यह मार्ग अनादि-अनन्त एक ही प्रकार का है। अहो! अनन्त सर्वज्ञदेवों द्वारा कथित, सन्तों द्वारा सेवन किया हुआ, तीर्थङ्कर-भगवन्तों और कुन्दकुन्दाचार्यदेव जैसे सन्तों की वाणी में आया हुआ - यह मार्ग है।

बारह वैराग्य भावनाओं में कहते हैं कि भाई! बाहर के पदार्थ तो तुझे शरण नहीं है परन्तु अन्दर के विकल्प भी शरणरूप नहीं हैं। यह देह तो क्षण में बिखर जाएगी, यह तुझे अशरण है; इससे तेरा अन्यत्व है तथा अन्दर के विकल्प भी अशरण-अध्रुव और अनित्य हैं, उनसे भी तेरे चैतन्य का अन्यत्व है - ऐसा जानकर, अपने चैतन्य की ही भावना भा। तेरे चैतन्यधाम में अनन्त केवलज्ञान और पूर्णानन्द की पर्यायें प्रगट होने की सामर्थ्य है; इसलिए **परमार्थ से चैतन्यधाम ही शाश्वत् तीर्थ है। अन्तर्मुख होकर उसकी यात्रा करने से भवसमुद्र से पार हुआ जाता है।**

धर्मी कहते हैं कि समस्त विकल्पोंरूप बन्धपद्धति को छोड़कर

मैं अपार चैतन्यतत्त्व का अनुभव करता हूँ। मेरे उत्पाद-व्यय-ध्रुव, चैतन्यभाव द्वारा ही होते हैं। श्रुतज्ञान को अन्तर्मुख करके ऐसा अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और उसके लिए विकल्प का आधार नहीं है। निर्विकल्प चैतन्य की शान्ति में विकल्प का सहारा मानना तो एक कलंक है। निर्विकल्प शान्ति में विकल्प का सहारा नहीं है। अनुभूति के समय विकल्प का अभाव है। 'मैं साधक हूँ और सिद्ध होनेवाला हूँ' - ऐसे विकल्प, श्रुतज्ञानी को भी अनुभव के समय नहीं हैं। निर्विकल्प अनुभव में मुनिराज को मुनिपने का विकल्प नहीं है और श्रावक को भी श्रावकदशा के विकल्प नहीं हैं; निर्विकल्पदशा में दोनों समान हैं। मुनि को विशेष आनन्द और विशेष स्थिरता है तथा गृहस्थ को अल्प है - यह बात भी यहाँ गौण है, क्योंकि 'मुझे अल्प आनन्द है और मुनि को अधिक आनन्द है' - ऐसा विकल्प भी अनुभव में नहीं है। इस प्रकार अनुभव में श्रुतज्ञानी को भी केवलज्ञानी की तरह पक्षातिक्रान्त कहा गया है।

इस प्रकार अनुभव के लिए मङ्गल उमङ्ग से शिष्य का जो प्रश्न था, उसका उत्तर आचार्यदेव द्वारा दिया गया है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 58-63 ]*

# 15. अनुभव का उपदेश

भाई! तुझे आनन्दसहित आत्मा का अनुभव हो और तेरा मोह टूटे - ऐसी बात सन्त तुझे सुनाते हैं।

माता की तरह वात्सल्य से हित की शिक्षा देते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! ऐसा अवसर प्राप्त करके तू देहादि से भिन्न अपना चैतन्यतत्त्व देख! जीवन में यही करने योग्य है। अरे! तूने दुनिया को देखा, परन्तु देखनेवाले ऐसे अपने को तूने नहीं देखा। पर की प्रसिद्धि तो की, किन्तु अपनी प्रसिद्धि नहीं की। अहा! चैतन्यतत्त्व ऐसे आनन्द से भरपूर है कि जिसके स्मरणमात्र से शान्ति प्राप्त होती है तो उसके सीधे अनुभव के आनन्द की तो क्या बात? स्वयं अपने को जानने से परम आनन्द होता है। अरे! आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और उत्तम उपदेश पाकर, अब उत्कृष्ट प्रयत्न द्वारा आत्मा को अनुभव में ले... एक बार आत्मा की खुमारी चढ़ाकर उद्यम कर।

हे भाई! यह चैतन्यतत्त्व अन्दर में देह से भिन्न, आनन्द से भरपूर कैसा है? उसका अनुभव करने के लिए तू कौतूहल कर... जगत् के बाह्य पदार्थों में तुझे आश्चर्य लगता है और उन्हें देखने का कौतूहल होता है परन्तु अन्दर में चैतन्यतत्त्व महा-आश्चर्यकारी है, उसे जानने का कौतूहल कर। बाहर के पदार्थों को जानने में कोई

आनन्द नहीं है, अन्दर चैतन्यतत्त्व ऐसा है कि जिसे जानने से आनन्द होता है। अहो! ऐसा आनन्दकारी चैतन्यतत्त्व!! उसे जानने के लिए एक बार तो ऐसी दरकार कर कि मरण जितने कष्ट आयें तो भी उसके अनुभव का प्रयत्न नहीं छूटे।

अरे! जगत् की चाहना छोड़कर, चैतन्य की चाहना तो कर! इस जगत् के पदार्थों को जानने में तुझे कौतूहल होता है परन्तु इन सबका जाननेवाला तू स्वयं कौन है? उसे जानने की जिज्ञासा तो कर! अनन्त काल से नहीं जाना हुआ – ऐसा यह गुप्त चैतन्यतत्त्व है, उसे जानने के लिए अन्दर में उल्लास तो कर!

अहा! आनन्द से विलसित हो रहे इस चैतन्यतत्त्व को देखते ही परद्रव्यों के प्रति तेरा मोह छूट जाएगा। परद्रव्य मेरा है – ऐसी तेरी मोहबुद्धि छूट जाएगी और तुझे चैतन्यतत्त्व परद्रव्यों से पृथक् विलसित होता हुआ, शोभित होता हुआ दिखाई देगा। भगवान ने जैसा उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा तेरे अन्तर में विलस रहा है, वह तुझे देह से भिन्न अनुभव में आयेगा और उसे देखकर तू आनन्दित होगा।

'तू मरकर भी ऐसे तत्त्व को देख अर्थात् ऐसा उग्र प्रयत्न कर कि मरण जितनी प्रतिकूलता उपस्थित हों तो भी देह से पृथक् आत्मा को अन्तर में देखने की धगश छूटे नहीं।' 'मरकर भी' अर्थात् आत्मा का तो कोई मरण नहीं है, परन्तु मरकर भी अर्थात् देह की दरकार छोड़कर, देह से भिन्न आत्मा को जानने की दरकार कर। देह की जितनी दरकार की है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणी आत्मा की दरकार करके आत्मा को जान – ऐसी सच्ची धगश से प्रयत्न करेगा तो अवश्य तुझे अन्दर में देह से भिन्न आत्मा का



विलास दृष्टिगोचर होगा कि जिसे देखते ही देह के साथ एकत्वपने का तेरा मोह शीघ्र ही छूट जाएगा। अरे जीव! तू विचार तो कर कि

**मैं कौन हूँ आया कहाँ से और मेरा रूप क्या?**

क्या यह देह मैं हूँ? क्या लक्ष्मी मैं हूँ? क्या यह परिवार इत्यादि मैं हूँ? नहीं; यह सब तो संयोगी पदार्थ हैं, वे तो आते हैं और फिर चले जाते हैं। आत्मा तो सदा टिकनेवाला असंयोगी वस्तु है। किसी संयोग में आत्मा का सुख नहीं है, सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं ही है; बाहर में से सुख ढूँढ़ने जाने से स्वयं अपने सुखस्वभाव को भूल जाता है। भाई! तेरा सुख क्या किसी दूसरे में से आता है? सुखस्वरूप तो आत्मा स्वयं है, स्वयं अपने को जानने से आनन्द होता है परन्तु उसके लिए इस दुनिया की दरकार छोड़कर चैतन्य समुद्र में डूबकी मार।

श्री आचार्यदेव कोमल सम्बोधनपूर्वक कहते हैं कि हे भाई! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्व का कौतूहली हो और शरीर आदि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर कि जिससे अपने आत्मा को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर, इस शरीर आदिक मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकपने के मोह को तू शीघ्र ही छोड़ देगा।

देखो, आचार्यदेव कड़क सम्बोधन करके नहीं कहते, किन्तु कोमल सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भाई! क्या यह तुझे शोभा देता है? कोमल सम्बोधन करके जगाते हैं कि अरे जीव! तू किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरण करके भी अर्थात् मरण जितने कष्ट आयें तो भी वह सब सहन करके तत्त्व का कौतूहली हो।

जैसे, कुएँ में मशीन डालकर उसकी थाह लाते हैं; उसी प्रकार ज्ञान से भरपूर चैतन्य कुएँ में पुरुषार्थरूपी गहरी मशीन डालकर उसकी थाह ला, विस्मयता ला! दुनिया की दरकार छोड़! दुनिया एक बार पागल कहेगी, भूत भी कहेगी! दुनिया की अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आवे तो भी उन्हें सहन करके, उनकी उपेक्षा करके, चैतन्य भगवान कैसा है? उसे एक बार देखने का कौतूहल तो कर! यदि दुनिया की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता में रुकेगा तो अपने चैतन्य भगवान को तू नहीं देख सकेगा; इसलिए दुनिया का लक्ष्य छोड़कर, उससे अकेला हो जा। एक बार महान् कष्ट से भी तत्त्व का कौतूहली हो जा।

जैसे, सूत और वेत का मेल नहीं खा सकता; उसी प्रकार जिसे आत्मा की पहचान करनी है, उसका और जगत् को मेल नहीं खा सकता। सम्यग्दृष्टिरूप सूत और मिथ्यादृष्टिरूप वेत का मेल नहीं खाता। आचार्यदेव कहते हैं कि हे बन्धु! तू चौरासी के कुएँ में पड़ा है, उसमें से पार होने के लिए कितने ही परीषह अथवा उपसर्ग आयें, मरण जितना कष्ट आयें तो भी उनकी दरकार छोड़कर, पुण्य-पापरूप विकारभाव का दो घड़ी पड़ोसी हो जा, तो चैतन्यदल तुझे पृथक् ज्ञात होगा। 'शरीरादि तथा शुभाशुभभाव - यह सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे भिन्न हूँ, पड़ोसी हूँ', इस प्रकार एक बार पड़ोसी होकर आत्मा का अनुभव कर।

अरे! तूने दुनिया तो देखी, परन्तु देखनेवाले स्वयं को नहीं देखा! पर की प्रसिद्धि की कि 'यह है' परन्तु अपनी प्रसिद्धि नहीं की कि 'यह जाननेवाला मैं हूँ।' जाननेवाले को जाने बिना आनन्द नहीं होता। अहा! चैतन्यतत्त्व ऐसे आनन्द से भरपूर है कि जिसके



स्मरणमात्र से ही शान्ति मिलती है। तब उसके सीधे अनुभव की तो बात ही क्या है!

तेरा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान है, मूर्त द्रव्यों से भिन्न है, राग से पृथक् है; तू एक बार मूर्त द्रव्यों का पड़ोसी हो जा। पड़ोसी अर्थात् भिन्न; चैतन्यप्रकाश की अपेक्षा से राग भी अचेतन है, वह भी चैतन्य के साथ एकमेक नहीं; अपितु भिन्न है। शरीर और राग - इन सबको एक ओर रखकर, इस ओर सबसे भिन्न अपने चैतन्य को देख। अरे! आत्मा के अनुभव का ऐसा सरस योग और भेदज्ञान का ऐसा उत्तम उपदेश! यह सब प्राप्त करके, अब एक बार आत्मा को अनुभव में ले! प्रयत्न करके आत्मा को देहादि से भिन्न जान!

सच्ची समझ करके समीपवर्ती पदार्थों से मैं पृथक् जानने-देखनेवाला हूँ। शरीर, वाणी, मन - यह सब बाहर के नाटक हैं, उन्हें नाटकस्वरूप देख! तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अन्तर-ज्योति से ज्ञान की भूमिका की सत्ता में यह सब जो ज्ञात होता है, वह मैं नहीं हूँ परन्तु उनका जाननेवालामात्र मैं हूँ। इस प्रकार स्व-तत्त्व को जान तो सही, और उसे जानकर लीन तो हो! आत्मा में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होती है, उसका आश्चर्य लाकर एक बार परद्रव्यों का पड़ोसी हो जा।

जिस प्रकार मुसलमान का और बनिये का घर समीप-समीप हों तो बनिया उसका पड़ोसी होकर रहता है परन्तु वह मुसलमान के घर को अपना नहीं मानता; इसी प्रकार तू चैतन्यस्वभाव में स्थिर होकर परपदार्थों का दो घड़ी पड़ोसी हो जा! आत्मा का अनुभव कर!

शरीर–मन–वाणी की क्रिया तथा पुण्य–पाप के परिणाम, वह सब तो पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ द्वारा पर का स्वामित्वपना माना है, विकारीभाव की तरफ तेरा बहिर्लक्ष्य है, वह सब छोड़कर स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञान और लीनता करके, एक अन्तर्मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी पृथक् होकर चैतन्यमूर्ति को भिन्न देख! उस आनन्द को अन्दर में देखने से तू शरीरादि के प्रति मोह को शीघ्र छोड़ देगा। ***'झटिति'*** अर्थात् शीघ्र छोड़ देगा। भाई! यह बात सरल है क्योंकि तेरे स्वभाव की बात है। केवलज्ञान लक्ष्मी को स्वरूप सत्ता भूमि में ठहरकर देख, तो तू पर के साथ के मोह को शीघ्र छोड़ देगा।

तीन काल–तीन लोक की प्रतिकूलता के ढेर एक साथ सामने आकर खड़े रहें तो भी मात्र ज्ञातारूप से रहकर वह सब सहन करने की शक्ति आत्मा के ज्ञायकस्वभाव की एक समय की पर्याय में विद्यमान है। शरीर आदि से भिन्नपने आत्मा को जाननेवाले को परीषह के ढेर जरा भी असर नहीं कर सकते अर्थात् उनमें चैतन्य अपने व्यापार से जरा भी नहीं डिगता।

कोई कोमल शरीरवाले जीवित राजकुमार को एकदम जमशेदपुर की अग्नि की भट्टी में डाल दे और उसे जो दुःख होता है, उसकी अपेक्षा अनन्तगुणा दुःख पहले नरक में है और पहले नरक से अधिक दूसरे में, तीसरे आदि सातों नरकों में क्रमशः बढ़ता हुआ अनन्तगुणा दुःख होता है। ऐसे अनन्त दुःख की प्रतिकूलता की वेदना में पड़ा हुआ, महा कठोर पाप करके वहाँ गया हुआ, तीव्र वेदना के समूह में पड़ा होने पर भी किसी जीव को ऐसा विचार आता है कि अरे रे! ऐसी वेदना! ऐसी पीड़ा! ऐसा विचार करके स्वसन्मुखता होने से सम्यग्दर्शन हो जाता है। वहाँ सत्समागम नहीं



होने पर भी पूर्व में एक बार सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था और वर्तमान में सम्यक्विचार के बल से सातवें नरक की महापीड़ा में पड़ा होने पर भी पीड़ा का लक्ष्य विस्मृत होकर सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा का वेदन होता है।

सातवें नरक में रहे हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव को नरक की पीड़ा असर नहीं कर सकती, क्योंकि उसे भान है कि मेरे ज्ञानस्वरूप चैतन्य को कोई परपदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्त वेदना में पड़ा हुआ भी आत्मा का अनुभव प्राप्त किया है तो सातवें नरक जितनी पीड़ा तो यहाँ नहीं है न! मनुष्यपना प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है? अब सत्समागम से आत्मा की पहचान करके आत्मानुभव कर। आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है कि परीषह आने पर भी डिगे नहीं और दो घड़ी, स्वरूप में लीन हो तो केवलज्ञान प्रगट करता है, जीवन्मुक्त दशा होती है और सिद्धदशा होती है तो फिर मिथ्यात्व का अभाव करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करना तो सुलभ ही है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग–2 एवं 4, पृष्ठ 18–22 एवं 45–47 से सङ्कलित ]*

*[ समयसार कलश 23 पर प्रवचन ]*

# 16. आत्मार्थी जीव का
# उत्साह और आत्मलगन

*आत्मार्थी जीव की धगश कैसी होती है? उसकी आत्मलगन कैसी होती है? और अपना सम्यक्त्वरूपी कार्य साधने के लिये उसका उत्साह और उद्यम कैसा होता है? - इन सबका सुन्दर और प्रेरणादायी विवेचन पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस प्रवचन में किया है।*

जीवादि छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायों का वर्णन करके, उपसंहार में उनके ज्ञान का फल दर्शाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि –

**इस रीत प्रवचनसाररूप पंचास्तिसंग्रह जानकर।**
**जो जीव छोड़े राग-द्वेष, पाये सकल दुःखमोक्ष रे॥**

इस प्रकार प्रवचन के सारभूत पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है।

प्रवचन अर्थात् भगवान सर्वज्ञदेव का उपदेश; उसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – ये छह द्रव्य कहे गये हैं। भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन में इन छह द्रव्यों का ही सब विस्तार है; इनसे अन्य कुछ नहीं कहा



गया है। जड़-चेतन, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष – यह सब छह द्रव्यों का ही विस्तार है; इसलिए छह द्रव्य ही उस प्रवचन का सार है। जो कालसहित पञ्चास्तिकाय को अर्थात् छह द्रव्यों को स्वीकार नहीं करता है, वह भगवान सर्वज्ञ के प्रवचन को नहीं जानता है।

छह द्रव्य, भगवान सर्वज्ञदेव के प्रवचन का सार हैं। ऐसे प्रवचन के सार को जो जीव जानता है, वह दुःख से परिमुक्त होता है परन्तु किस प्रकार जानता है? कि अर्थतः अर्थीरूप से जानता है।

'अर्थतः अर्थी' – ऐसा कहकर आचार्यदेव ने पात्र श्रोता की विशेष योग्यता बतलायी है। पात्र श्रोता कैसा है? आत्मा का अर्थी है, आत्मा के हित का वाँछक है। किसी भी प्रकार मुझ आत्मा का हित हो – अन्तर में ऐसा गरजवान हुआ है। याचक हुआ है अर्थात् हित के लिये विनय से दीनपने अर्पित हो गया है, सेवक हुआ है। जिनसे आत्मप्राप्ति हो – ऐसे सन्तों के प्रति सेवकभाव से वर्तता है और शास्त्र जानने में उसे दूसरा कोई हेतु नहीं है; एकमात्र आत्महित की प्राप्ति का ही हेतु है। शास्त्र पढ़कर मैं दूसरों से अधिक हो जाऊँ अथवा मान-प्रतिष्ठा प्राप्त कर लूँ अथवा दूसरों को समझा दूँ – ऐसे आशय से जो शास्त्र नहीं पढ़ता, परन्तु शास्त्र पढ़कर, छह द्रव्यों का स्वरूप समझकर, मैं अपनी आत्मा का हित किस प्रकार साध लूँ और मेरा आत्मा दुःख से कैसे छूटे? इस प्रकार आत्मा का शोधक होकर जानता है।

वह आत्मा का अर्थी जीव, शास्त्र के अर्थ को किस प्रकार जानता है? कि अर्थतः जानता है अर्थात् अकेले शब्द से नहीं

जानता, अपितु उसके वाच्यरूप पदार्थ को अनुलक्ष्य करके जानता है, भावश्रुतपूर्वक जानता है; अकेले शाब्दिक ज्ञान में सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु अन्तर में शोधक होकर वाच्यभूत वस्तु को शोधता है; सुख का शोधक होकर पदार्थों का स्वरूप जानता है।

अहा! अर्थीरूप से जानने की बात कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की कितनी धगश बतलायी है! स्वयं अर्थी होकर–शोधक होकर सुनने जाता है परन्तु ऐसा नहीं है कि जब सहज सुनने का योग बन जाए, तब सुन लेता है और फिर उसकी दरकार नहीं करता। यह शिष्य तो स्वयं अभिलाषी होकर, गरजवान होकर, किसी भी प्रकार मुझे मेरा स्वरूप समझना है – ऐसी अन्तरङ्ग में स्फूरणा करके समझने की गरज से सुनता है।

सम्यक्त्व की तैयारीवाले जीव को अपना कार्य साधने का बहुत उत्साह होता है। वह जीव, सम्यक्त्व के लिए उत्साहपूर्वक कैसा प्रयत्न करता है? इसका वर्णन करते हुए मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि 'जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है – इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करने का इसको हर्ष बहुत है; इसलिए अन्तरङ्ग प्रीति से उसका साधन करता है। इस प्रकार साधन करते हुए जब तक —

(1) सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो;

(2) 'यह इसी प्रकार है' – ऐसी प्रतीतिसहित जीवादितत्त्वों का स्वरूप आपको भासित न हो;



(3) जैसे पर्याय में अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मा में अहंबुद्धि न आये;

(4) हित–अहितरूप अपने भावों को न पहिचाने, – तब तक सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि है। यह जीव थोड़े ही काल में सम्यक्त्व को प्राप्त होगा; इसी भव में या अन्य पर्याय में सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा।'

आत्मार्थी जीव उल्लसित वीर्यवान है, उसके परिणाम उल्लासरूप होते हैं, अपने स्वभाव को साधने के लिए उसका वीर्य उत्साहित होता है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि 'उल्लसित वीर्यवान, परम तत्त्व की उपासना का मुख्य अधिकारी है।' आत्मार्थी जीव अपनी आत्मा के हित के लिए उल्लासपूर्वक श्रवण–मनन करता है। कुलप्रवृत्तिपूर्वक अथवा सुनने का सहज योग बन जाए तो सुन ले, किन्तु समझने का प्रयत्न नहीं करे तो उसे आत्मा की गरज नहीं है। इसलिए यहाँ आत्मा का अर्थी होकर शास्त्र जानने को कहा गया है। कहा भी है कि –

**काम एक आत्मार्थ का, दूजा नहीं मन रोग**

जिसके अन्तरङ्ग में एक आत्मार्थ साधने का ही लक्ष्य है। मेरे अनादि के भवरोग के दुःख का अभाव कैसे हो? इसके अतिरिक्त अन्य कोई रोग अर्थात् मानादि की भावना जिसके अन्तर में नहीं है; जो शिष्य इस प्रकार आत्मा का अर्थी होकर पञ्चास्तिकायसंग्रह को जानता है, वह सर्व दुःख से परिमुक्त होता है।

जिस प्रकार कोई मनुष्य बहुत दिनों से क्षुधातुर हो और क्षुधा मिटाने के लिए याचक बनकर, मान छोड़कर भोजन माँगता है, वह

अपने लिए माँगता है; दूसरों को देने के लिये नहीं। मेरी भूख का दुःख मिटे, ऐसा कोई भोजन मुझे दो – इस प्रकार याचक होकर माँगता है। ऐसे क्षुधातुर व्यक्ति को भोजन प्राप्त हो तो उसे वह कैसा मीठा लगेगा? अरे! सुखी रोटियाँ मिले तो भी मीठी लगती हैं... और अत्यन्त हर्ष से अपनी क्षुधा मिटाता है।

इसी प्रकार जिस जीव को आत्मा की लगन लगी है, भूख लगी है। अरे! अनादिकाल से संसार में भ्रमण करते हुए मुझे आत्मा ने कहीं सुख प्राप्त नहीं किया, एकान्त दुःख ही पाया है। अब, दुःख से छूटकर मेरा आत्मा सुखी कैसे हो? इस प्रकार सुख के उपाय के लिये छटपटाता है; वह जीव, ज्ञानी सन्त के समीप जाकर दीनरूप से भिखारी की तरह याचक होकर विनय से माँगता है – हे प्रभु! मुझे अपनी आत्मा के सुख का मार्ग बतलाओ। इस भव दुःख से छूटने का मार्ग मुझे समझाओ। इस प्रकार जो आत्मा का गरजवान होकर आया है और उसे आत्मा के आनन्द की बात सुनने को प्राप्त हो तो वह कैसी मीठी लगेगी! उस समय वह दूसरे किसी लक्ष्य में नहीं रुकेगा, अपितु एक ही लक्ष्य से आत्मा का स्वरूप समझकर अपना दुःख मिटायेगा।

जो वास्तव में आत्मा का अर्थी होकर सुनता है, उसे श्रवण होते ही देशना अन्तर में परिणत हो जाती है। जैसे, जिसे कड़क भूख लगी हो, उसे भोजन पेट में पड़ते ही (तृप्तिरूप) परिणमित हो जाता है; इसी प्रकार जिसे चैतन्य की वास्तविक अभिलाषा जागृत हुई है, उसे वाणी कान में पड़ते ही आत्मा में परिणमित हो जाती है।

जिस प्रकार तृषातुर को शीतल पानी प्राप्त होते ही प्रेमपूर्वक पीता है; इसी प्रकार आत्मा के अर्थी को चैतन्य के शान्तरस का पान मिलते ही अत्यन्त रुचिपूर्वक झेलकर अन्तर में परिणमा देता है। जैसे, कोई एकदम भरी दोपहरी में रेगिस्तान में आ पड़ा हो, प्यास से तड़पते हुए कण्ठगत प्राण हो गया हो, पानी... पानी... की पुकार करता हो और ऐसे समय में शीतल मधुर पानी प्राप्त हो तो कैसी शीघ्रता से पियेगा; इसी प्रकार विकार की आकुलतारूपी भरी दोपहरी में भवारण्य के बीच भ्रमता हुआ जीव सिक रहा है। वहाँ आत्मार्थी जीव को आत्मा की प्यास लगी है – लगन लगी है, वह आत्मा की शान्ति के लिए छटपटा रहा है। ऐसे जीव को सन्तों की मधुर वाणी द्वारा चैतन्य के शान्तरस का पान प्राप्त होते ही अन्तर में परिणमित हो जाता है।



जिस तरह कोरे घड़े पर पानी की बूँद गिरते ही वह उसे चूस लेता है; उसी प्रकार आत्मार्थी जीव, आत्मा के हित की बात को चूस लेता है अर्थात् अन्तर में परिणमित करा देता है।

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान-अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान-अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

जिस प्रकार थके हुए व्यक्ति को विश्राम मिलने पर अथवा वाहन आदि की सुविधा मिलने पर वह हर्षित होता है और रोग से पीड़ित मनुष्य को वैद्य मिलने पर वह उत्साहित होता है; इसी प्रकार भव-भ्रमण कर करके थके हुए और आत्मभ्रान्ति के रोग से पीड़ित जीव को थकान उतारनेवाली और रोग मिटानेवाली चैतन्यस्वरूप की बात कान में पड़ते ही, वह उत्साहपूर्वक उसका सेवन करता है। सच्चे सद्गुरु वैद्य ने जिस प्रकार कहा हो, उस प्रकार वह चैतन्य का सेवन करता है। सन्त के समीप दीन होकर भिखारी की तरह 'आत्मा' माँगता है कि प्रभु! मुझे आत्मा का स्वरूप समझाओ।

जैसे, कोई व्यक्ति, समुद्र के बीच में डूबकी खा रहा हो तो उसका एक ही लक्ष्य है कि मैं समुद्र में डूबने से कैसे बचूँ? वहाँ यदि कोई सज्जन आकर उसे बचाता है तो कैसी उपकारबुद्धि होती है? अहा! इन्होंने मुझे समुद्र में डूबने से बचाया, इन्होंने मुझे जीवन दिया, इस प्रकार महाउपकार मानता है। इसी प्रकार भवसमुद्र में गोते खा-खाकर थके हुए जीव का एक ही लक्ष्य है कि मेरा आत्मा इस संसार समुद्र से किस प्रकार बचे? वहाँ कोई ज्ञानी पुरुष उसे तिरने का उपाय बतावें तो वह प्रमादरहित होकर, उल्लसितभाव से उस उपाय को अङ्गीकार करता है।

जिस प्रकार डूबते हुए मनुष्य को कोई जहाज में बैठने के लिए कहे तो क्या वह जरा भी प्रमाद करेगा? नहीं करेगा। इसी प्रकार संसार से तिरने के अभिलाषी आत्मार्थी जीव को ज्ञानी सन्त, भेदज्ञानरूपी जहाज में बैठने को कहते हैं, वहाँ वह आत्मार्थी जीव, भेदज्ञान में प्रमाद नहीं करता और भेदज्ञान का उपाय दर्शानेवाले



सन्तों के प्रति उसे महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! अनन्त जन्म-मरण के समुद्र में से आपने मुझे बाहर निकाला। भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया। संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है - ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

इस प्रकार अर्थतः अर्थीरूप से इस पञ्चास्तिकाय को जानने को आचार्यदेव ने कहा है। अर्थतः अर्थीरूप से अर्थात् भाव समझने की लगन से, वास्तविक दरकार से, उत्साह से, रुचि से, जिज्ञासा से, गरजवान होकर, याचक होकर, शोधक होकर, आत्मा का अर्थी होकर पञ्चास्तिकाय को जानना चाहिए। इस प्रकार पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या करना चाहिए? वह अब कहते हैं -

पञ्चास्तिकायसंग्रह को अर्थतः अर्थीरूप से जानकर, इसी में कहे हुए जीवास्तिकाय के अन्तर्गत रहे हुए अपने को/निज आत्मा को स्वरूप से अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला निश्चित करना चाहिए।

देखो, यह शास्त्र को जानने की रीत अथवा शास्त्र को जानने का तात्पर्य!

आत्मा का अर्थी जीव, पञ्चास्तिकाय को जानकर अन्तर में यह निश्चय करता है कि मैं सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शनमय हूँ। इस प्रकार जो अन्तर्मुख होकर सुविशुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप अपने आत्मा को निश्चय करता है, उसे ही पञ्चास्तिकाय का यथार्थ ज्ञान है।

पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या प्राप्त करना है? शुद्ध जीवास्तिकाय ही प्राप्त करने योग्य है। इस जगत् में पञ्चास्तिकाय के समूहरूप अनन्त द्रव्य हैं, उनमें से अनन्त अचेतनद्रव्य तो मुझ

से भिन्न विजातीय हैं, वह मैं नहीं हूँ और चैतन्यस्वभाववाले अनन्त जीव भिन्न-भिन्न हैं, वे सभी 'जीवास्तिकाय' में आ जाते हैं। इस प्रकार जीवास्तिकाय में अन्तर्गत होने पर भी दूसरे अनन्त जीवों से भिन्न मैं एक चैतन्यस्वभावी जीव हूँ। इस प्रकार स्वभाव सन्मुख होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ ऐसा आत्मा का निर्णय अपूर्व भाव से करता है। निर्णय की ऐसी ठोस भूमिका के बिना धर्म की चिनाई नहीं होती।

**प्रश्न** – ऐसे निर्णय का साधन क्या है ?

**उत्तर** – मन्दराग साधन नहीं है, अपितु ज्ञान और वीर्य का उत्साह ही उसका साधन है। ज्ञान और रुचि के अन्तर्मुख होने के उत्साह के बल से मिथ्यात्वादि प्रतिक्षण टूटते जाते हैं।

'निर्णय' यह धर्म की ठोस भूमिका है परन्तु यह निर्णय कैसा ? अकेले श्रवण से हुआ नहीं, परन्तु अन्दर में आत्मा को स्पर्श करके हुआ अपूर्व निर्णय; यह निर्णय ऐसा है कि कदाचित् देह का नाम तो भूल जाए, परन्तु निज-स्वरूप को नहीं भूलता। देह का प्रेमी मिटकर 'आत्मप्रेमी' हुआ है। वह कदाचित् देह का नाम तो भूलेगा, किन्तु आत्मा को नहीं भूलेगा। अपने ज्ञान की निर्मलता में अपना ऐसा फोटो पड़ गया है कि जो कभी भी विस्मृत नहीं होगा। जिसने ऐसा निर्णय किया है, वह राग-द्वेष का क्षय करके अल्प काल में मुक्ति प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा।

अर्थीरूप से पञ्चास्तिकाय को जानकर क्या करना ? यही कि अपनी आत्मा को अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप निश्चित करना। देखो, पाँच में से जीव को पृथक् करके एक में लाये हैं, स्व में लाये हैं।



पञ्चास्तिकाय का श्रवण करते समय भी जिज्ञासु जीव का लक्ष्य तो 'मेरा आत्मा ज्ञानस्वरूप है' – ऐसा निर्णय करने का ही था। मेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है; इस प्रकार अन्तर में लक्ष्यगत करके सुना और वैसा निर्णय किया।

पञ्चास्तिकाय अर्थात् जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश को जानकर उनके विचार में अटकना नहीं है परन्तु 'मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी है' – ऐसा निश्चय/निर्णय करना है। पाँच द्रव्यों को अर्थरूप से जानने पर उसमें ऐसे जीवास्तिकाय का ज्ञान आ ही जाता है। भगवान के प्रवचन छह द्रव्यों का स्वरूप कहनेवाले हैं। उन छह द्रव्यों का स्वरूप जानकर अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभाव निश्चित करना ही, भगवान के प्रवचन का सार है। भगवान के प्रवचन वस्तुतः किसने जाने कहे जाएँ? जिसने अपनी आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभावरूप निश्चित किया, उसने ही वास्तव में भगवान के प्रवचन को जाना। निज तत्त्व के निर्णय बिना परतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कभी होता ही नहीं। इसलिए निज तत्त्व का निर्णय करके उसमें एकाग्र होना ही भगवान के सर्व प्रवचन का तात्पर्य है, जिसके सेवन से दुःख का अभाव होकर सुख की प्राप्ति होती है।

जगत् के तत्त्वों को जानकर, अन्तरोन्मुख होकर अपने आत्मा को जगत् से पृथक् शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्णय करना, उसे मात्र विकार जितना ही मत मान लेना, किन्तु शुद्ध चैतन्यस्वरूप निर्णय करना। निर्णय के काल में विकार भी वर्तता होने पर भी, मात्र उस विकार की तरफ नहीं झुककर शुद्ध चैतन्यस्वभाव की तरफ झुकना।

जिसके सेवन से दु:ख मिटकर आनन्द प्राप्त हो – ऐसा विशुद्ध चेतनस्वरूप मैं हूँ – ऐसा निश्चित करना।

आत्मार्थी जीव के लक्षण, श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं। आत्मा के आनन्द की बात कान में पड़ते ही आत्मार्थी का उत्साह छिपा नहीं रहता। जिस प्रकार पुत्र के लक्षण पालने से ही दिखने लगते हैं; उसी प्रकार आत्मार्थी के लक्षण आत्मा का श्रवण करते ही ज्ञात हो जाते हैं।

देखो, यहाँ सुनकर निर्णय करने पर जोर है। क्या निर्णय करना? मेरा आत्मा विशुद्ध ज्ञान–आनन्दस्वरूप है – ऐसा निर्णय करना। ऐसा दृढ़ निर्णय करना कि वीर्य का वेग उस ओर ढले बिना नहीं रहे। ऐसा निर्णय करने के पश्चात् बारम्बार उस ओर के प्रयत्न से अनुभव होता है; निर्णय के बिना पुरुषार्थ की दिशा नहीं खुलती है।

देखो, भाई! यह बात स्वयं अपने हित के लिये समझने की है। स्वयं समझकर अपना हित कर लेना, दूसरे जीव क्या करते हैं? – यह देखने के लिये रुकना मत! यह वस्तु ही ऐसी है कि जगत् के सभी जीव इसे प्राप्त नहीं कर सकते। कोई विरले ही इसे प्राप्त करते हैं। इसीलिए समयसार, गाथा 205 में आचार्यदेव कहते हैं –

**रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।**
**तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्ममोक्षेच्छा तुझे॥**

ज्ञानगुण से रहित बहुत लोग इस ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते। इसलिए हे भव्य! यदि तू कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहता है तो नियत एकरूप ऐसे इस ज्ञानस्वभाव को ग्रहण कर। ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन कर।



पहले अफर निर्णय होना चाहिए कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और उसी का मुझे अवलम्बन करने योग्य है। दूसरा कम–ज्यादा आवे, उससे कुछ नहीं होता। कदाचित् कम आवे तो उसका खेद नहीं और अधिक आवे तो उसका अभिमान नहीं, क्योंकि जिसे आत्मा का स्वभाव आता है, उसे सब आता है और उसने भगवान के समस्त प्रवचन का सार जान लिया है।

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन–विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ – ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है – यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग–द्वेष का अभाव करता जाता है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, ( भाग-2 ) पञ्चास्तिकाय, गाथा 103 पर प्रवचन, पृष्ठ 85-89 ]*

# 17. आत्मार्थी जीव का

# उत्साह और आत्मनिर्णय

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित पञ्चास्तिकाय को 'अर्थतः अर्थीरूप से' जानने की बात कहकर आचार्यदेव ने श्रोता की विशेष पात्रता बतलायी है। अपना आत्महित साधने के लिए श्रोता को अन्तर में बहुत उत्साह और धगश है। एक आत्मार्थ साधने के अतिरिक्त अन्य कोई शल्य उसके हृदय में नहीं है। ऐसे आत्मार्थी जीव को ज्ञानी-सन्तों के द्वारा भेदज्ञान का उपदेश प्राप्त होते ही महान् उपकारबुद्धि होती है कि हे नाथ! आपने मुझे अनन्त दुःख में से बाहर निकाला, भवसमुद्र में डूबते हुए मुझे आपने बचाया; संसार में जिसका कोई प्रत्युपकार नहीं है – ऐसा परम उपकार आपने मुझ पर किया है।

जिस प्रकार क्षुधातुर अथवा तृषातुर जीव, दीनरूप से आहार-पानी माँगता है, इसी प्रकार संसार से थका हुआ और आत्मशान्ति के लिए छटपटाता हुआ जीव, सन्तों के समीप जाकर दीनरूप से अतिविनयपूर्वक कहता है कि हे नाथ! जीव को शान्ति का उपाय बतलाओ।

आचार्यदेव कहते हैं कि 'हे भव्य! हे जिज्ञासु! प्रथम तो तू आत्मा का अर्थी होकर, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित छह द्रव्यों को



जानकर यह निर्णय कर कि मेरा आत्मा अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वरूप है। आत्मा का प्रेमी होकर यह निर्णय कर कि जगत् के पदार्थों में शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही मैं हूँ। अकेले श्रवण अथवा विकल्प से नहीं, अपितु अन्तर्लक्ष्य से आत्मा को स्पर्श करके अपूर्व निर्णय कर। आत्मस्वरूप का ऐसा निर्णय ही धर्म की ठोस भूमिका है।

मैं अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावी हूँ, इस प्रकार निजतत्त्व का निश्चय करने के बाद वह मोक्षार्थी जीव क्या करता है? जिस स्वभाव का निश्चय किया है, उसी का अनुसरण करता है और उस काल में रागादिभाव वर्तते होने पर भी उनका अनुसरण नहीं करता, अपितु उन्हें छोड़ता है। जिसने अपने शुद्धस्वभाव का निश्चय किया है – ऐसा धर्मी जानता है कि मुझमें जो यह राग-द्वेषादि विकार दृष्टिगोचर होता है, वह मेरा स्वभावभूत नहीं है, अपितु मुझमें आरोपित है। जिस क्षण राग-द्वेष वर्तते हैं, उसी क्षण विवेक-ज्योति के कारण धर्मी जीव जानता है कि मेरा स्वभाव तो शुद्ध चैतन्यमात्र है; यह राग-द्वेष तो उपाधिरूप है। यह राग-द्वेष की परम्परा मेरे स्वभाव के आश्रय से नहीं हुई है किन्तु कर्मबन्धन के आश्रय से हुई है। अब, मैं अपने स्वभाव के आश्रय से निर्मलपर्याय की परम्परा प्रगट करके इस राग-द्वेष की परम्परा का अभाव कर देता हूँ। इस प्रकार अपने स्वभाव का निश्चय करके, उसका ही अनुसरण करनेवाला जीव समस्त दुःख से परिमुक्त होता है।

अपने स्वभाव को भूलकर कर्म की ओर के झुकाव से जीव को अनादि से राग-द्वेष की परम्परा चल रही है और उन राग-द्वेष से कर्मबन्ध होता है; इस प्रकार राग-द्वेष और कर्मबन्ध की परम्परा अनादि से चली आ रही होने पर भी, वह स्वभावभूत नहीं, किन्तु

विभावरूप उपाधि है। धर्मी जीव अपने में उस उपाधि का अवलोकन करके अर्थात् अपनी पर्याय में वे विकारीभाव हैं – ऐसा जानकर, उसी काल में अपने निरुपाधिक शुद्धस्वभाव का निश्चय भी प्रगट वर्तता होने से, उस स्वभाव के सन्मुख झुकता जाता है और राग–द्वेष की परम्परा को मिटाता जाता है। राग–द्वेष की परम्परा मिटने से कर्मबन्धन भी छूटता जाता है और इस क्रम से वह जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

आचार्यदेव, परमाणु का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि स्कन्ध में रहा हुआ परमाणु जब जघन्य स्निग्धतारूप परिणमित होने के सन्मुख होता है, तब स्कन्ध के साथ के बन्धन से वह पृथक् हो जाता है। इसी प्रकार शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुके हुए जीव को रागादि स्निग्धभाव अत्यन्त क्षीण होते जाते होने से, वह पूर्व बन्धन से छूटता जाता है और नया बन्धन नहीं होता; इसलिए उबलते हुए पानी के समान अशान्त दुःखों से वह परिमुक्त होता है।

देखो, आत्मा के अर्थीरूप से पञ्चास्तिकाय को जानने का फल! जो जीव वास्तव में आत्मा का अर्थी हुआ, उसे आत्मा की प्राप्ति हुए बिना रहती ही नहीं। पञ्चास्तिकाय को जानकर उसमें से अपने शुद्ध आत्मा को पृथक् करके अर्थात् निर्णय में लेकर, श्रद्धा–ज्ञान करके, उसमें लीन होना ही मोक्ष का उपाय है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि कालसहित पञ्चास्तिकाय का प्रतिपादन करनेवाला यह 'पञ्चास्तिकाय' जिनप्रवचन का सार है, क्योंकि जिनप्रवचन में छह द्रव्यों का ही सब विस्तार है। छह द्रव्य और उनके गुण–पर्यायों में सब समाहित हो जाता है। बन्धमार्ग–मोक्षमार्ग; हित–अहित; सुख–दुःख; जीव–अजीव; संसार–मोक्ष; धर्म–अधर्म – यह सभी छह द्रव्य के विस्तार में आ जाता है।



छह द्रव्यों में जीवास्तिकाय अनन्त हैं, पुद्‌गलास्तिकाय भी अनन्त हैं, धर्म–अधर्म और आकाश एक–एक हैं और कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन द्रव्यों में से प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व अपने–अपने में ही परिपूर्णता पाता है। प्रत्येक जीव अथवा परमाणु अपने–अपने में स्वतन्त्र अस्तित्व से परिपूर्ण है। किसी के अस्तित्व का अंश किसी दूसरे में नहीं है। अपने–अपने गुण–पर्यायोंस्वरूप जितना अस्तित्व है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की सीमा है, उतना ही उसका कार्यक्षेत्र है। कोई भी द्रव्य अपने अस्तित्व की सीमा से बाहर कुछ भी कार्य नहीं कर सकता और दूसरे के कार्य को अपने अस्तित्व की सीमा में नहीं आने देता – ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, जिसे सर्वज्ञ भगवान अरहन्तदेव ने प्रसिद्ध किया है।

हे जीव! अपने हित–अहित का कर्तव्य तुझमें ही है। तुझसे भिन्न पाँच अजीव द्रव्यों में अथवा अन्य जीवों में कहीं तेरा हित–अहित नहीं है; तू स्वयं ही अपने हित–अहितरूप कार्य का कर्ता है, कोई दूसरा तेरे हित–अहित का कर्ता नहीं है; अतः अब तुझे स्वयं अपना अहित कब तक करना है? अभी तक तो अज्ञान से पर को हित–अहित का कर्ता मानकर तूने अपना अहित ही किया है परन्तु अब तो 'मेरे हित–अहित का कर्ता मैं स्वयं ही हूँ, मेरा अहित मिटकर हित करने की सामर्थ्य मुझमें ही है' – ऐसा समझकर अपना हित करने के लिए तू जागृत हो जा। पर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व की अत्यन्त पृथक्ता जानकर, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप

में ढल! यही जिनप्रवचन का और सन्तों का उपदेश है; मोक्ष का उपाय भी यही है।

हे जीव! तेरा अस्तित्व तुझमें और दूसरों का अस्तित्व उनमें है। तेरे हित के लिए तुझे दूसरों के सन्मुख देखना पड़े अथवा दूसरों के कारण तुझे रुकना पड़े – ऐसा नहीं है।

**प्रश्न** – दूसरों की बात तो ठीक किन्तु इस देह की सँभाल के लिए तो रुकना पड़ता है न?

**उत्तर** – भाई! देह का अस्तित्व पुद्गल में और तेरा अस्तित्व तुझमें है। तू सँभाल रखे तो देह का अस्तित्व टिकता है – ऐसा नहीं है। जीव का अस्तित्व अपने ज्ञानादि गुणों में है, देह में नहीं और देह का अस्तित्व अजीव परमाणुओं में है, जीव में नहीं। किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है, तब फिर दूसरों के लिए रुकना पड़े – यह बात ही कहाँ रही?

अरे! कर्म के कारण रुकना पड़ता है – ऐसा भी नहीं है... कर्म का अस्तित्व पुद्गल में है और जीव का अस्तित्व जीव में है; राग का अस्तित्व भी जीव में है। जीव और कर्म दोनों का अस्तित्व ही भिन्न है, किसी के कारण किसी का अस्तित्व नहीं है।

इस प्रकार पञ्चास्तिकाय को भिन्न-भिन्न जानकर, शुद्ध चैतन्यस्वरूप निज आत्मा को पृथक् करना। इसकी मुख्यता अर्थात् प्रधानता करके, उसकी महिमा का चिन्तवन करके, उस ओर झुकना। इस जगत् के अनन्त द्रव्यों में शुद्धज्ञानरूप निज आत्मा ही मैं हूँ; इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा नहीं है – ऐसा निश्चय करके, वैसा ही अनुभव करना। जगत् के सभी सत् पदार्थों की



सत्ता स्वीकार करके, स्वकीय चैतन्य सत्ता की शरण लेने की यह बात है। जगत् के पदार्थों को जान-जानकर क्या करना? यही कि अपने चैतन्यस्वभाव की शरण लेना, उसका आश्रय करना।

- **जगत् में छह प्रकार के द्रव्य हैं;**
- **उनमें एक जीव, पाँच अजीव हैं;**
- **जीव अनन्त हैं, प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है;**
- **उसमें अपना आत्मा भिन्न, ज्ञानस्वरूप है।**

इस प्रकार अपनी आत्मा को जगत् से भिन्न निश्चित करना। कैसा निश्चित करना? विशुद्ध चैतन्यस्वभावरूप निश्चित करना।

जीव के अस्तित्व में दो पहलु : द्रव्य और पर्याय; उसमें द्रव्य तो शुद्ध एक रूप है, पर्याय में शुद्धता-अशुद्धता दोनों होते हैं। प्रथम शुद्ध द्रव्यस्वभाव का निर्णय कराया कि विशुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्मा का निर्णय करना। शुद्ध द्रव्यस्वरूप का निर्णय कराने के पश्चात् पर्याय में जो विकार है, उसका भी ज्ञान कराते हैं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप तो अनारोपित-असली स्वभाव है और विकार तो आरोपित विभाव है। शुद्धद्रव्य का निर्णय किये बिना आरोपित विकार का ज्ञान नहीं होता।

यदि शुद्धस्वरूप के ज्ञान बिना, अकेले विकार को जानने जाए तो वह विकार को ही निज/असली स्वरूप मान लेगा; इसलिए सच्चा ज्ञान नहीं होगा। जिस प्रकार निज जीव को जाने बिना छह द्रव्य ज्ञात नहीं होते; जैसे, उपादान को जाने बिना निमित्त का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; जैसे, निश्चय के बिना वास्तविक व्यवहार नहीं होता; इसी प्रकार शुद्धस्वरूप को जाने बिना अकेले विकार का

यथार्थ ज्ञान नहीं होता – यह महा सिद्धान्त है। जिस प्रकार उष्णता के समय भी पानी में शीतलस्वभाव है; उसी प्रकार पर्याय में विकार के समय भी आत्मा शुद्ध निर्विकारी चैतन्यस्वभाव है – ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है।

**प्रश्न** – उस स्वभाव का निर्णय किस प्रकार होता है ?

**उत्तर** – उस स्वभाव सन्मुखता के ध्यान से ही उसका निर्णय होता है। जिस प्रकार उष्णता के समय पानी में शीतलस्वभाव है, वह स्वभाव हाथ–पैर अथवा आँख, कान, नाक, जीभ इत्यादि इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता तथा आकुलता, राग–द्वेष, सङ्कल्प –विकल्प द्वारा भी उसका निर्णय नहीं होता किन्तु पानी के स्वभाव सम्बन्धी ज्ञान से ही इसका निर्णय होता है; इसी प्रकार आत्मा की पर्याय में विकार वर्तता होने पर भी सर्वज्ञदेव ने आत्मा का स्वरूप शुद्धचैतन्यस्वभावी कहा है और वैसा ही ज्ञानियों ने अनुभव किया है; उस शुद्ध स्वभाव का निर्णय इन्द्रियों से अथवा मन के सङ्कल्प –विकल्पों से नहीं होता, अपितु ज्ञान को अन्तर में विस्तृत करके उस स्वभाव का निर्णय होता है। ज्ञान को अन्तर में झुकाते ही स्वभाव को स्पर्शकर ऐसा निर्णय होता है कि अहा! मेरा स्वभाव आकुलता और आतापरहित परम शान्त है, क्षणिक आकुलता मेरा परमस्वरूप नहीं है, मेरा परमस्वरूप तो आनन्द से उल्लसित है।

अरे! जीवों का लक्ष्य बाहर में दौड़ता है परन्तु अन्तर में स्व तरफ लक्ष्य नहीं जाता; इसलिए अपनी महिमा भाषित नहीं होकर पर की ही महिमा भाषित होती है। सिद्ध भगवन्त कैसे महान्! अरहन्त भगवन् महान्! सन्त–मुनिवर और धर्मात्मा महान्!! इस प्रकार उनकी महिमा गाता है परन्तु हे भाई! जिसकी महिमा तू



रात–दिन गाता है, वह तू स्वयं ही है, क्योंकि सन्त कहते हैं कि जैसा हमारा आत्मा, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; इसलिए हे जीव! तू अपने स्वभाव की महिमा को लक्ष्य में ले।

देखो, अरहन्त–सिद्ध अथवा सन्त–महात्माओं की सच्ची महिमा भी तभी ज्ञात होती है कि जब अपने स्वभाव की महिमा को समझे। सर्वज्ञ और सन्त जिस मार्ग से अन्तर में स्थिर हैं, वह मार्ग तेरा तुझमें ही है। अन्तर के चिदानन्दस्वरूप में से सहज शीतल आनन्द प्रगट करके उन्होंने आताप का नाश किया है, तू भी आताप का नाश करके सहज शीतल आनन्द प्रगट करने के लिए अपने चिदानन्दस्वरूप की तरफ जा।

हे जीव! तेरे आनन्द का अस्तित्व तेरे स्वभाव में है, बाहर नहीं। जगत् के बाह्य पदार्थों की जो कुछ परिणति होती हो, उसके साथ तुझे कुछ लेना–देना नहीं है। तेरे दु:ख में भी तू अकेला और तेरी शान्ति में भी तू अकेला है। सर्वज्ञ तेरे समीप विराजमान हों तो भी वे तेरी परिणति को सुधार दें – ऐसा नहीं है और अनेक शत्रुओं ने तुझे घेर लिया हो तो भी वे तेरी शान्ति को बिगाड़ सकें – ऐसा नहीं है। तेरे अन्तर स्वभाव के अवलम्बन बिना दूसरों से तुझे शान्ति आनेवाली नहीं है और तेरे स्वभाव के अवलम्बन से जो शान्ति प्रगट हुई है, वह किसी दूसरे से बिगड़नेवाली नहीं है। अहा! कितनी स्पष्ट वस्तुस्थिति है! तथापि अज्ञानी जीव का यह भ्रम नहीं मिटता कि बाहर से मेरी शान्ति आती है और दूसरा मेरी शान्ति को लूट लेता है।

यदि जीव इस वस्तुस्थिति को समझ ले तो अन्तर्मुख होकर अपनी शान्ति अपने अन्तर में ही शोध ले और अन्तर–शोधन से

शान्ति उपलब्ध हुए बिना नहीं रहे। भगवान और सन्तों को प्रगट होनेवाला शान्तरस कहाँ से प्रगट हुआ है? अन्तरस्वभाव में शान्तरस का समुद्र भरा था, वही उल्लसित होकर प्रगट हुआ है। हे जीव! सम्यग्ज्ञान द्वारा तू भी अपनी स्वभावशक्ति को उछाल। अहो! मेरे चिदानन्दस्वभाव में ही शान्तरस का समुद्र भरा है – ऐसा विश्वास करके, उसमें एकाग्रता करना ही शान्ति का उपाय है।

मेरी शान्ति और उस शान्ति का उपाय, बाह्य इन्द्रिय-विषयों में कहीं नहीं है परन्तु अन्तर में अपने अतीन्द्रियस्वरूप में ही है। इस प्रकार पहले अपने अतीन्द्रिय चेतनस्वभाव का ज्ञान से निर्णय कर।

'मैं कौन हूँ' – ऐसे निजस्वरूप को जानने के लिए तेरे अन्तर में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी का सहारा नहीं है। भले ही तेरे चारों ओर सन्त-मुनियों के समूह विराजमान हों तो भी तेरे अन्तरस्वभाव के आश्रय बिना तुझे शान्ति देने के लिए दूसरा कोई समर्थ नहीं है और यदि तूने अपने स्वभाव का आश्रय किया है तो फिर भले ही सारी दुनिया डूब जाए अथवा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में खलबलाहट हो जाए तो भी तेरी शान्ति को भङ्ग करने में कोई समर्थ नहीं है। इस प्रकार जगत् से भिन्न अपने अस्तित्व को जानकर और अपनी शान्ति का परिणमन अपने अन्तर-साधन के आधीन है – ऐसा भान करके जो जीव अपने अन्तर में प्रयत्न करता है, वह परमशान्तरस प्रगट करके सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

जिस प्रकार उबलता हुआ पानी खौलता रहता है, वह जरा भी शान्त नहीं रहता; इसी प्रकार इस संसार में जीव दुःखों से खौल रहा है, उसे किञ्चित् भी शान्ति नहीं है – ऐसे संसार-दुःख का जिसे



अन्तर में त्रास लगता हो और किसी भी प्रकार से उनसे छूटकर शान्ति प्राप्त करना चाहता हो, वह जीव वास्तविक आत्मार्थी होकर शान्ति का उपाय खोजता है। आत्मा की शान्ति के लिए गरजवान हुआ जीव, प्रथम तो जगत् में कैसे-कैसे तत्त्व हैं? – उन्हें जानता है और उनमें स्वयं कौन है? – यह भी जानता है; फिर अपना वास्तविक शुद्धस्वभाव क्या है? – यह निश्चय करके, अन्तरस्वभाव सन्मुख होता है; इस प्रकार वह जीव, शान्ति प्राप्त करता है।

देखो, जब अपने अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर उसके अतीन्द्रिय शान्ति के अंश का वेदन हुआ, तब उस जीव ने जाना कि अहा! ऐसी शान्तिस्वरूप ही मेरा आत्मा है। यह जो शान्ति का वेदन हुआ, वह मेरे स्वभाव में से ही आयी है और मेरा सम्पूर्ण स्वभाव ऐसी शान्ति से भरपूर है। यह जो राग-द्वेषादि विकारीभाव वेदन में आते हैं, वह वेदन मेरे स्वभाव में से नहीं आया है, वह तो मुझमें आरोपित है। विकार मेरा स्वभावभूत नहीं है, अपितु उपाधिरूप है। इस प्रकार वेदन के स्वाद की भिन्नता से विकारीभाव उसे अपने स्वभाव से स्पष्ट भिन्न ज्ञात होते हैं; इस कारण ज्ञानी को उस क्षण में विकार वर्तता होने पर भी सम्यग्ज्ञानरूप विवेकज्योति भी साथ ही साथ वर्त ही रही है। एक ओर शान्तरस के समुद्र समान शुद्ध स्वभाव को जानता है और दूसरी ओर मलिन जल के डबरे/गड्ढे के समान विकार को जानता है। इस प्रकार दोनों को जानता हुआ, विकार की तुच्छता जानकर, उसे तो छोड़ता जाता है और शुद्धस्वभाव की महिमा जानकर, उसमें झुकता जाता है। इस उपाय से अल्प काल में ही समस्त दुःखों का नाश करके, वह जीव परम आनन्दस्वरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 150-158 ][ पञ्चास्तिकाय, गाथा 103 पर प्रवचन ]*

# 18. आत्मार्थी जीवों को
# वीतरागी सन्तों का मधुर सम्बोधन

आत्मा में मोक्ष की झलक लेकर और आत्मार्थी जीवों को हित का मार्ग दर्शाने के लिए सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। वे सन्त, क्षण भर में अन्तर में स्थिरता करके आनन्द में लवलीन हो जाते हैं और किञ्चित् बाहर आने पर शुभवृत्ति उत्पन्न हों, तब शास्त्र लिखते हैं.... इस प्रकार चैतन्य के आनन्द में झूलती दशा में सन्तों ने इन शास्त्रों की रचना की है। अन्तर की आनन्द की झलक बतलाकर, जगत् को सावधान किया है कि अरे जीवों! रुक जाओ... बाहर में कहीं तुम्हारा आनन्द नहीं है; तुम्हारा आनन्द तुम्हारे अन्तर में है। अहा! बहिर्मुख दौड़ते हुए जगत् को सावधान करके सन्तों ने रोक दिया है।

देखो, यह बात झेलनेवाला जीव कैसा है? आत्मार्थी है, आत्मार्थ के लिए मर जाने को तैयार है। 'काम एक आत्मार्थ का दूजा नहीं मनरोग' अर्थात् अपना आत्मार्थ साधने के अलावा, जिसके अन्तर में दूसरी कोई मानादिक की शल्य नहीं है, दुनिया अपने को माने या न माने, इसकी उसे दरकार नहीं है। जगत् में दूसरों का सम्बन्ध रहे या न रहे, इसके समक्ष वह देखता भी नहीं है। एकाकी होकर भी अपने आत्मा को ही साधना चाहता है –



ऐसा आत्मार्थी जीव, ज्ञानी-सन्तों के चरण की अतिशय भक्तिपूर्वक यह बात झेलता है।

जिसे ऐसी आत्मार्थिता होती है, उसे अन्तर में आत्मा समझानेवाले के प्रति कितना प्रमोद, भक्ति, बहुमान, उल्लास और अर्पणता का भाव होता है! वह आत्मा समझानेवाले के प्रति विनय से अर्पित हो जाता है... अहो नाथ! आपके लिए मैं क्या-क्या करूँ? इस पामर पर आपने अनन्त उपकार किया... आपके उपकार का बदला मैं किसी प्रकार चुका सकूँ – ऐसा नहीं है।

जिस प्रकार किसी को फुँफकारता हुआ भयङ्कर सर्प, फन ऊँचा करके डस ले, तब जहर चढ़ने से आकुल-व्याकुल होकर वह जीव तड़पता हो, वहाँ कोई सज्जन गारूड़ी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार दे तो वह जीव उस सत्पुरुष के प्रति कैसा उपकार व्यक्त करेगा? अहा! आपने मेरा जीवन बचाया, दु:ख में तड़पते हुए मुझे आपने बचाया, इस प्रकार उपकार मानता है।

इसी प्रकार बाह्य विषयों से और रागादि कषायों से लाभ मानकर, जीव को अनन्तानुबन्धी क्रोध द्वारा फुँफकारते हुए मिथ्यात्वरूपी महाफणधर सर्प ने डस लिया है और वह जीव आकुल-व्याकुल होकर खौलते हुए पानी की तरह दु:ख में तड़प रहा है। संसार-भ्रमण के दु:खों में सिकता हुआ, आकुल-व्याकुल होकर हाथ-पैर मारता है। वहाँ धर्मात्मा सन्त, ज्ञानरूपी गारूढी मन्त्र द्वारा उसका जहर उतार देते हैं और उसे दु:ख से छूटने का उपाय बताते हैं। उपाय प्राप्त करके उस जीव को सन्तों के प्रति कितना उपकार आता है! अहा नाथ! आपने मुझे जीवन दिया... अनन्त दु:ख से तड़पते हुए मुझे आपने उभारा... सर्प के जहर से

बचानेवाले ने तो एक बार मरण से बचाया, परन्तु हे भगवान! आपने तो मुझे अनन्त जन्म-मरण के दुःखों से बचाया है।

देखो, इस प्रकार के वास्तविक उपकार का भाव कब जगता है? जबकि सन्तों के द्वारा बताया गया मार्ग अपने आत्मा में प्रगट करे तब।

मोक्ष के साधक वीतरागी सन्तों ने जो मोक्ष का उपाय बताया है, वह मोक्षार्थी जीव को ही परिणमित हो सकता है। जो जीव, विषय-कषाय का और मानादिक का अर्थी हो, उसे अन्तर में मोक्ष का उपाय परिणमित नहीं होता; जो जीव मोक्षार्थी है, उसके लिए ही सन्तों का उपदेश है। समयसार, गाथा 18 में आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि -

**जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।**
**उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥ 8॥**

मोक्षार्थी जीव को क्या करना चाहिए? यह इसमें बताया है। इसी प्रकार समयसार, कलश 185 में भी कहते हैं कि -

मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करें कि मैं तो सदा शुद्ध चेतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ और जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में मोक्षार्थी जीव के लिए ही सन्तों का उपदेश है।

यहाँ भी यही कहते हैं कि अर्थतः अर्थी होकर, इस शास्त्र को जानना और इसमें कहे गये पदार्थों में से 'अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वरूप जीव ही मैं हूँ' - ऐसा निश्चय करना।



जगत् में समस्त पदार्थों का अस्तित्व होने पर भी, किसी एक की सत्ता दूसरे में नहीं है, सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूप-मर्यादा में वर्त रहे हैं; अपने स्वरूप की मर्यादा का उल्लंघन करके कोई द्रव्य पर में नहीं जाता है। जीव अपने स्वरूप की (विकार की अथवा अविकार की) मर्यादा छोड़कर पर में नहीं जाता और जीव की स्वरूप-मर्यादा में परद्रव्य नहीं आते। अब तदुपरान्त जीव के शुद्ध चैतन्यस्वरूप में विकार का भी प्रवेश नहीं है, विकार तो बहिर्लक्ष्यी उपाधिरूप भाव है, शुद्ध चैतन्य के साथ उसकी एकता नहीं हो सकती।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मलभाव प्रगट होता है, वह तो जीव के स्वरूप में अभेद हो जाता है; इसलिए उसे तो जीव कहा है परन्तु विकल्पभावों को जीव के शुद्धस्वरूप के साथ अभेदता नहीं होती; इसलिए शुद्धस्वरूप की दृष्टि से वे जीव नहीं, किन्तु अजीव हैं। पर्याय अपेक्षा से देखने पर विकार, निश्चय से अर्थात् अशुद्धनिश्चय से अपना ही है, वह अपना ही अपराधभाव है और शुद्ध द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से विकार, जीव में दिखता ही नहीं; जीव तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दोनों पहलुओं का ज्ञान कराकर, आचार्यदेव कहते हैं कि तेरे शुद्धस्वभाव को मुख्य रूप से लक्ष्य में लेकर, उसकी आराधना कर... और अशुद्धता को गौण करके, उसका आश्रय छोड़।

व्यवहार को उस काल में अर्थात् जब पर्याय को जानते हैं, उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है परन्तु उसका आश्रय करने के लिए नहीं कहा है। जब पर्याय को देखते हैं, उस काल में

साधक को विकार अपने में आरोपित हुआ, ज्ञान में आता है परन्तु विकार अनुभव में आने पर भी उसी काल में साथ ही शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का भान भी वर्तता होने से, वह साधक विकार से विमुख होकर शुद्धस्वरूप में ढलता जाता है अर्थात् स्वभाव और विभाव में निरन्तर भेदज्ञान वर्तता होने से, वह साधक, रागादि परिणति को शुद्धस्वरूप रूप से कभी अङ्गीकार नहीं करता; अपितु उसे परभावभूत उपाधि जानकर छोड़ता जाता है। रागपरिणति छूटने से कर्मबन्धन की अनादि की परम्परा टूट जाती है।

अनादि से रागपरिणति से कर्म का बन्धन और उसके उदय के समय पुनः रागपरिणति और फिर से कर्म का बन्धन – ऐसी परम्परा अभिच्छिन्नधारा से चल रही थी, किन्तु अब जिसकी परिणति स्वभावसन्मुख हो गयी है – ऐसे जीव को रागादि परिणति छूट जाने पर कर्मबन्धन की परम्परा भी छूट जाती है, उसे नवीन कर्म का संवर होता जाता है और पुराने कर्म झरते जाते हैं; इस प्रकार समस्त कर्मों से विमुक्त होता हुआ वह जीव, दुःख से परिमुक्त होता है। दुःख कैसा है ? खौलते पानी के समान, अशान्तरूप है।

अन्तर्मुख स्वभाव में सुख है और बाह्य विषयों में खौलते हुए पानी के समान दुःख है... परन्तु भ्रान्ति के आवेश में भूले हुए जीव, स्वभाव की शान्ति से तो दूर भागते हैं और बाह्य विषयों के दुःख में दौड़कर, व्याकुलित होते हैं। जिस प्रकार भ्रान्ति के आवेश में पड़ा हुआ मृग, विपरीत दिशा में दौड़ता है; उसी प्रकार अज्ञानी जीव की दशा हो रही है।

एक दिशा में मृग को पकड़ने के लिए किसी शिकारी में जाल बिछाया हो और यह देखकर कोई दयालु महाजन, उस मृग को



बचाने के उद्‌देश्य से उसे दूसरी दिशा में जाने के लिए संकेत करता है, वहाँ भ्रान्तिवश, वह मृग उस बचानेवाले को ही मारनेवाला समझकर, उससे डरकर विपरीत दिशा में अर्थात् जिस दिशा में जाल बिछा है, उसी दिशा में दौड़ता है और अन्त में जाल में फँस जाता है।

इसी प्रकार मोह की भ्रान्ति के वश पड़ा हुआ, मृग के समान अज्ञानी प्राणी अनादि से ही विपरीत दौड़ कर रहे हैं और बाह्य बिषयों में – राग में सुख मान–मानकर, उसी में दौड़ रहे हैं। ज्ञानी महाजन करुणापूर्वक उन्हें बिषयों से परान्मुख करके स्वभावसन्मुख करते हुए कहते हैं – अरे प्राणियों! बाह्य बिषयों की सन्मुखतारूप वृत्ति में सुख नहीं है, उसमें तो आकुलता की खलबलाहट है। अरे! व्यवहार की शुभवृत्ति में भी सुख नहीं है, उसमें भी आकुलता की खलबलाहट है; इसलिए इन बाह्य वृत्तियों से परान्मुख होओ... वापिस मुड़ो... और अन्तर के चिदानन्दस्वभाव में सुख है, उसमें अन्तर्मुख होओ... अन्तर्मुख होओ!

अब, वहाँ जो जीव जिज्ञासु है, आत्मार्थी है, वह तो ज्ञानी सन्तों की ऐसी ललकार सुनकर रुक जाता है और अन्तर में विचार करके उसका विवेक करता है कि अहा! यह बात परमसत्य है, यह मेरे हित की बात है, किन्तु जो जीव भ्रान्ति के वश पड़ा है, जिसकी विचारशक्ति तीव्र मोह के कारण कुण्ठित हो गयी है – ऐसा जीव तो हितोपदेशक को भी अहितरूप समझकर 'यह तो हमारा व्यवहार भी छुड़ाते हैं' इस प्रकार उनसे भय खाकर, विपरीत दिशा में ही अर्थात् रागादि और बाह्य बिषयों में ही दौड़ता है और भव–भ्रमण के जाल में फँसकर दुःखी होता है। अपने हित का

विचार करके, जो जीव स्वभावसन्मुख होता है और परभाव की परिणति से परान्मुख होता है, वह जीव, दुःख से छूटकर, परम आनन्द को प्राप्त करता है।

देखो, आचार्यदेव ने इस एक गाथा में बहुत-सी बातें बतला दी हैं। आत्मार्थता से लेकर मोक्ष तक की बातें इसमें समझायी हैं। प्रथम तो जिसमें कालसहित पाँच अस्तिकाय का वर्णन हो, वही जिनप्रवचन है। मोक्षार्थी जीव उस जिनप्रवचन में कहे हुए द्रव्यों को जानता है; 'अर्थी होकर जानता है' अर्थात् आत्मा का हित प्राप्त करने की वास्तविक गरज से जानता है; 'अर्थतः जानता है' अर्थात् मात्र शब्दों की धारणा से नहीं किन्तु उनकी भाव-भासनपूर्वक जानता है। समस्त पदार्थों को जानकर, उनमें रहे हुए अपने आत्मा को पृथक् करके यह निश्चय करता है कि शुद्ध चैतन्यस्वरूप स्ववस्तु है, वही मैं हूँ - ऐसा निश्चय करके स्वभावसन्मुख ढलता है। अपने आत्मा में भी रागादि अशुद्धभावों के पहलु का आदर न करके, शुद्धस्वरूप का आदर करता है। पर्याय में विकार होने पर भी, उसी समय विवेकज्योति के बल से शुद्धस्वरूप में ढलता है और रागादि परिणति को छोड़ देता है। तात्पर्य यह है कि निजस्वभाव को छोड़ता नहीं और परभाव का ग्रहण नहीं करता।

यद्यपि उस जीव को राग के काल में भेदज्ञान वर्तता है परन्तु कहीं राग के कारण वह भेदज्ञान नहीं है। राग के साथ ही वर्तते हुए भेदज्ञान के कारण साधक जीव, उस राग में अभेदता न करके, शुद्धस्वभाव में अभेदता करता जाता है और राग को छोड़ता जाता है। रागरूपी चिकनाहट के छूटने पर कर्म भी छूट जाते हैं। जिस प्रकार परमाणु में स्पर्श की स्निग्धता इत्यादि जघन्य हो जाने पर वह



परमाणु स्कन्ध से पृथक् हो जाता है; उसी प्रकार स्वभावसन्मुख झुके हुए जीव को रागादिरूप स्निग्धता छूट जाने से वह जीव, कर्मबन्धन से छूट जाता है।

श्रोता किसलिए सुनता है? सुनकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति करने के उद्देश्य से सुनता है। जैसा आत्मस्वरूप सुनता है, वैसा ही श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में लेने का उद्यम करता है; उद्यमपूर्वक अर्न्तस्वरूप में एकता करके, कर्म के साथ का एकत्व तोड़ देता है। राग-द्वेषपरिणति द्वारा कर्मबन्ध की परम्परा चलती थी परन्तु जहाँ अन्तर्मुख होकर राग-द्वेषपरिणति को तोड़ दिया, वहाँ पुराने और नये कर्मों के बीच की सन्धि टूट गयी अर्थात् कर्म की परम्परा रुक गयी और वह जीव संसार दुःख से परिमुक्त हुआ।

जीव, स्वभाव के साथ एकत्व से कर्म के साथ एकत्व तोड़कर उनकी परम्परा को छेद देता है। ऐसा नहीं है कि पुराने कर्म, नये बन्ध का कारण हुआ ही करे। जब जीव, राग-द्वेषपरिणति द्वारा कर्म के साथ जुड़ता है, तब ही कर्म की परम्परा चालू रहती है परन्तु यदि अपनी परिणति को स्वभाव के साथ जोड़कर, राग-द्वेष को छोड़े तो कर्म की परम्परा टूट जाती है। जिस प्रकार परमाणु अपने स्वरूप में एकाकीरूप वर्तता है; उसी प्रकार स्वरूप में एकत्वरूप से लगा हुआ जीव भी राग-द्वेषरहित होता हुआ, कर्मबन्धरहित होकर एकाकीरूप अर्थात् मुक्तदशारूप परिणमित होता है।

नियमसार में कहते हैं कि जड़स्वरूप पुद्गल की स्थिति, पुद्गल में ही है - ऐसा जानकर वे सिद्ध भगवन्त अपने चैतन्यात्मक स्वरूप में क्यों नही रहेंगे? वहीं और भी कहा है कि यदि परमाणु

एक वर्णादिरूप प्रकाशित निजगुण समुह में है तो उससे मेरी कुछ कार्यसिद्धि नहीं है। इस प्रकार निजहृदय में मानकर, परम सुखपद का अर्थी भव्य समूह, शुद्ध आत्मा को एक को भजो।

जिस प्रकार परमाणु जघन्य स्निग्धतारूप परिणमित होता है, तब वह स्कन्धरूप बन्ध से भिन्न हो जाता है; इसी प्रकार आत्मा भी परमात्मभावना की उग्रता द्वारा एकत्वस्वरूप में परिणमता हुआ कर्मबन्धन से भिन्न हो जाता है। इस प्रकार एक परमाणु और सिद्धपरमात्मा की तरह जो जीव अपने एकत्वस्वरूप में वर्तता है, उसे नवीन बन्धन नहीं होता और पूर्व में बँधे हुए कर्म भी छूट जाते हैं; इसीलिए वह अशान्त दु:खों से मुक्त हो जाता है।

जिस प्रकार शीतल जल तो शान्त होता है परन्तु वह ऊष्ण होने पर खौलने लगता है और अशान्त हो जाता है; इसी प्रकार शान्त जल से भरे हुए चैतन्यसरोवर भगवान आत्मा में राग–द्वेष की ऊष्णता होने पर दु:ख के बुलबुले उत्पन्न होते हैं, अशान्ति होती है; चैतन्यस्वभाव की भावना से राग–द्वेष शान्त हो जाने पर जीव उन अशान्त दु:खों से मुक्त होता है और अतीन्द्रिय शान्ति–आनन्द का अनुभव करता है – यह पञ्चास्तिकाय के अवबोध का फल है।

जो जीव, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव का निश्चय करके उसके सन्मुख होकर वर्तता है, वह जीव, बन्धनरहित होकर, दु:ख से मुक्त होकर परम आनन्द को पाता है। अनादि से स्वरूप की सन्मुखता किये बिना जीव महादु:ख में जल रहे हैं। जिस प्रकार उफनते हुए तेल में शकरकन्द सिकता है; उसी प्रकार घोर दु:ख के गढ्ढे में राग–द्वेष–मोह से जीव आकुलित हो रहे हैं; उस



दु:ख से मुक्त होने की रीति आचार्यदेव ने इस 103 वीं गाथा में बतलाई है।

जो वन–जङ्गल में बसनेवाले महान सन्त हैं, जो विदेहक्षेत्र में जाकर भगवान सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनकर आये हैं, जिनके चारित्र का पावर प्रस्फुटित हुआ है और जो चैतन्य के आनन्द में झूला झूल रहे हैं – ऐसे भगवान कुन्दकुन्द आचार्यदेव का यह कथन है। जो जीव, आत्मार्थी होकर समझेगा, वह दु:ख से परिमुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करेगा। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-2, पृष्ठ 159-166 ]*
*[ पञ्चास्तिकाय, गाथा 103 पर प्रवचन ]*

## ज्ञान वैराग्य शक्ति से युक्त मुनिदशा

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को देव–शास्त्र–गुरु के प्रति भक्ति, विनय इत्यादि के उपरान्त पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि का विकल्प तथा तद्नुरूप प्रवर्तन होता है किन्तु किसी भी संयोग में चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में वर्तनेवाले समकिती की ज्ञान–वैराग्य–शक्ति कोई अलग ही रहती है। समयसार, निर्जरा अधिकार में कहा है कि भगवान ज्ञायक का यथार्थ ग्रहण, वह ज्ञान है और रागादि का अभाव वह वैराग्य है। अहो! ज्ञानी की यह ज्ञान–वैराग्यधारा कोई अलौकिक ही होती है।

*( -वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 200 )*

# 19. जिज्ञासु को धर्म कैसे करना चाहिए ?

जो जीव, जिज्ञासु होकर स्वभाव को समझने के लिए आया है, वह सुख प्राप्त करने और दु:ख का अभाव करने के लिए आया है। सुख अपना स्वभाव है और वर्तमान में जो दु:ख है, वह क्षणिक है; इसलिए वह दूर हो सकता है। जो सत् को समझने के लिए आया है, उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि जीव, वर्तमान दु:खरूप अवस्था को दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्था को प्रगट कर सकता है।

आत्मा को अपने भाव में पुरुषार्थ करके विकाररहित स्वरूप का निर्णय करना चाहिए। वर्तमान में विकार होने पर भी विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा की जा सकती है; अर्थात्, यह निश्चय हो सकता है कि यह विकार और दु:ख, मेरा स्वरूप नहीं है।

जिज्ञासु जीवों को स्वरूप का निर्णय करने के लिए शास्त्रों ने पहली ही ज्ञानक्रिया बतायी है। स्वरूप का निर्णय करने के लिए अन्य कोई दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तपादि करने को नहीं कहा है परन्तु श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करना ही कहा है। सर्व प्रथम कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र का आदर और उस ओर का आकर्षण तो



दूर हो ही जाना चाहिए तथा विषयादि परवस्तु में जो सुखबुद्धि है, वह भी दूर हो जाना चाहिए। सब ओर से रुचि दूर होकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिए।

देव, गुरु और शास्त्र को यथार्थ रीति से पहचानकर, उनका आदर करे और यदि यह सब स्वभाव के लक्ष्य से हुआ हो तो उस जीव के पात्रता हुई कही जा सकती है। देखो; इतनी पात्रता भी अभी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का मूल कारण तो चैतन्यस्वभाव का लक्ष्य करना है परन्तु पहले कुदेवादि का सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सत्समागम का प्रेम तो पात्र जीवों को होता ही है। ऐसे पात्र जीवों को आत्मा का स्वरूप समझने के लिए क्या करना चाहिए? – यह इस समयसार, गाथा 144 की टीका में स्पष्टरूप से बतलाया है।

*'पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण जो इन्द्रियों के और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि है, उसे मर्यादा में लाकर, जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नाना प्रकार के पक्षों के अवलम्बन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता को उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियों को भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्परहित होकर तत्काल परमात्मरूप समयसार का जब आत्मा अनुभव करता है, उस समय ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात्, श्रद्धा की जाती है) और ज्ञात होता है; इसलिए समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।'*

अब, यहाँ इसका स्पष्टीकरण किया जाता है।

'प्रथम, श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना' – ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिए? सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान, अस्ति–नास्ति के द्वारा वस्तुस्वरूप सिद्ध करता है। अनेकान्तस्वरूप वस्तु को 'स्व –अपेक्षा से है और पर–अपेक्षा से नहीं है' – इस प्रकार जो स्वतन्त्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

परवस्तु को छोड़ने के लिए कहे अथवा पर के प्रति राग कम करने के लिए कहे – ऐसा भगवान के द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान का लक्षण नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी अपेक्षा से है और वह वस्तु, अनन्त परद्रव्यों से पृथक् है; इस प्रकार अस्ति–नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करके, जो वस्तुस्वरूप को बतलाता है, वह अनेकान्त है और वही श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व–अपेक्षा से है और पर–अपेक्षा से नहीं है, इसमें वस्तु को स्वतः सिद्ध–ध्रुवरूप सिद्ध किया है।

एक वस्तु में 'है' और 'नहीं है' – ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ भिन्न–भिन्न अपेक्षा से प्रकाश कर, वस्तु का पर से भिन्न स्वरूप बताती हैं – यही श्रुतज्ञान; अर्थात्, भगवान के द्वारा कहा गया शास्त्र है। इस प्रकार आत्मा, सर्व परद्रव्यों से पृथक् वस्तु है – ऐसा पहले श्रुतज्ञान से निश्चय करना चाहिए।

अनन्त परवस्तुओं से यह आत्मा भिन्न है, इस प्रकार सिद्ध होने पर अब अपने द्रव्य–पर्याय में देखना रहता है। मेरा त्रिकाल द्रव्य एक समयमात्र की अवस्थारूप नहीं है; अर्थात्, विकार क्षणिक पर्याय के रूप में है परन्तु त्रिकालस्वरूप के रूप में नहीं है; इस प्रकार विकाररहित स्वभाव की सिद्धि भी अनेकान्त से होती है।



भगवान के द्वारा कहे गये सत् शास्त्रों की महिमा अनेकान्त से ही है।

भगवान ने अपना कार्य परिपूर्ण किया और दूसरे का कुछ भी नहीं किया, क्योंकि एक तत्त्व अपने रूप से है और पररूप से नहीं है; इसलिए वह किसी अन्य का कुछ नहीं कर सकता है। प्रत्येक द्रव्य, भिन्न–भिन्न स्वतन्त्र है; कोई किसी का कुछ नहीं कर सकता। इस प्रकार जानना ही भगवान के शास्त्र की पहिचान है, यही श्रुतज्ञान है। यह तो अभी स्वरूप को समझनेवाले की पात्रता कही गयी है।

कोई जीव, परद्रव्य की प्रभावना नहीं कर सकता, परन्तु जैनधर्म; अर्थात्, आत्मा का जो वीतरागस्वभाव है, उसकी प्रभावना धर्मी जीव कर सकते हैं। आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किस प्रकार करे? प्रभावना करने का जो विकल्प उठता है, वह भी पर के कारण नहीं है, क्योंकि दूसरे के लिये कुछ भी अपने में होता है – यह कहना जैनशासन की मर्यादा में नहीं है। जैनशासन तो वस्तु को स्वतन्त्र, स्वाधीन और परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवान ने अन्य जीवों की दया की स्थापना की है, यह बात मिथ्या है। यह जीव, परजीव की क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर भगवान उसे बचाने के लिये क्यों कहेंगे? भगवान ने तो आत्मस्वभाव को पहचानकर, अपने आत्मा को कषायभाव से बचाने को कहा है और यही सच्ची दया है। अपने आत्मा का निर्णय किये बिना कोई क्या करेगा? भगवान के श्रुतज्ञान में तो यह कहा है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है। प्रत्येक तत्त्व अपने आप ही स्वतन्त्र है। किसी

तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं है। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप को पृथक् रखना, वह अहिंसा है और एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य का कुछ कर सकता है – इस प्रकार वस्तु को पराधीन मानना, वह हिंसा है।

जगत् के जीवों को सुख चाहिए है; सुख कहो या धर्म कहो – एक ही है। धर्म करना है; अर्थात्, आत्मशान्ति चाहिए है। आत्मा की अवस्था में दुःख का नाश करके वीतराग आनन्द प्रगट करना है। यह आनन्द ऐसा चाहिए कि जो स्वाधीन हो; जिसके लिए पर का अवलम्बन न हो – ऐसा आनन्द प्रगट करने की जिसकी यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है।

अपना पूर्णानन्द प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु पहले यह देखे कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ? स्वयं को अभी वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ है। यदि अपने को वैसा आनन्द प्रगट हो तो फिर आनन्द प्रगट करने की भावना न हो। तात्पर्य यह है कि अभी स्वयं को वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ, किन्तु अपने में जैसी भावना है, वैसा आनन्द अन्य किसी को प्रगट हो चुका है और जिन्हें वैसा आनन्द प्रगट हुआ है, उनके निमित्त से स्वयं वह आनन्द प्रगट करने का यथार्थ मार्ग जाने; इसलिए इसमें सच्चे निमित्तों की पहचान भी आ गयी। जब तक इतना करता है, तब तक अभी जिज्ञासु है।

अपनी अवस्था में अधर्म / अशान्ति है, उसे दूर करके धर्म / शान्ति प्रगट करना है; वह शान्ति अपने आधार से और परिपूर्ण होनी चाहिए। जिसे ऐसी जिज्ञासा हो, वह पहले यह निश्चय करे कि मैं एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ तो



वैसा परिपूर्ण सुख किसी को प्रगट हुआ होना चाहिए। यदि परिपूर्ण सुख–आनन्द प्रगट न हो तो दुःखी कहलाएगा। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट हुआ है, वही सम्पूर्ण सुखी है और ऐसे सर्वज्ञ ही हैं। इस प्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय करता है। इसमें पर का करने–धरने की बात तो है ही नहीं। जब वह पर से किञ्चित् पृथक् हुआ है, तब तो आत्मा की जिज्ञासा हुई है। यह तो पर से अलग होकर, अब जिसे अपना हित करने की तीव्र आकाँक्षा जागृत हुई है – ऐसे जिज्ञासु जीव की बात है। परद्रव्य के प्रति जो सुखबुद्धि और रुचि है, उसे दूर कर देना, वह पात्रता है तथा स्वभाव की रुचि और पहचान का होना, उस पात्रता का फल है।

दुःख का मूल, भूल है। जिसने अपनी भूल से दुःख उत्पन्न किया है, यदि वह अपनी भूल को दूर कर दे तो उसका दुःख दूर हो जाए। अन्य किसी ने वह भूल नहीं करायी है; इसलिए दूसरा कोई अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है।

जो आत्मकल्याण करने के लिए तैयार हुआ है – ऐसे जिज्ञासु को पहले क्या करना चाहिए? यह बताया जा रहा है। आत्मकल्याण अपने आप नहीं हो जाता, किन्तु अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिए, जिनके पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है, वे कौन हैं? वे क्या कहते हैं? उन्होंने पहले क्या किया था? इसका अपने ज्ञान में निर्णय करना होगा; अर्थात्, सर्वज्ञ के स्वरूप को जानकर, उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिए, यही प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलम्बन से धर्म प्रगट नहीं होता, तथापि जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब सामने निमित्त

के रूप में सच्चे देव और गुरु ही होते हैं।

इस प्रकार पहला निर्णय यही हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है। वही पुरुष, पूर्ण सुख का पूर्ण सत्यमार्ग बतला सकता है। उसे स्वयं समझकर अपने पूर्ण सुख को प्रगट किया जा सकता है और जब स्वयं समझता है, तब सच्चे देव-शास्त्र-गुरु ही निमित्त होते हैं

जिसे स्त्री-पुत्र, पैसा इत्यादि की; अर्थात्, संसार के निमित्तों की तीव्र रुचि होगी, उसे धर्म के निमित्त, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति रुचि नहीं होगी; अर्थात्, उसे श्रुतज्ञान का अवलम्बन नहीं होगा और श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना आत्मा का निर्णय नहीं होता, क्योंकि आत्मा के निर्णय में सत् निमित्त ही होते हैं परन्तु कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्र, आत्मा के निर्णय में निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादि को मानता है, उसके आत्मनिर्णय हो ही नहीं सकता है।

जिज्ञासु यह तो मानता ही नहीं है कि दूसरे की सेवा करने से धर्म होता है, किन्तु यथार्थ धर्म कैसे होता है? इसके लिए वह पहले पूर्ण ज्ञानी भगवान और उनके द्वारा कहे गये शास्त्र के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए उद्यमी होता है। जगत् तो धर्म की कला को ही नहीं समझ पाया है, यदि धर्म की एक ही कला को सीख ले तो उसे मोक्ष हुए बिना नहीं रहे।

जिज्ञासु जीव पहले सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादि को छोड़ता है और उसे सच्चे देव-गुरु की ऐसी लगन लगी है कि उसका यही समझने की ओर लक्ष्य है कि सत्पुरुष क्या कहते हैं? इसलिए अशुभ से तो वह हट ही गया है।



यदि सांसारिक रुचि से नहीं हटे तो वीतरागी श्रुत के अवलम्बन में नहीं टिक सकता।

बहुत से जिज्ञासुओं के यही **प्रश्न** उठता है कि धर्म के लिए पहले क्या करना चाहिए? पर्वत पर चढ़ा जाए, सेवा-पूजा की जाए, गुरु की भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त की जाए, अथवा दान दिया जाए?

इसके **उत्तर** में कहते हैं कि इनमें कहीं भी आत्मा का धर्म नहीं है। धर्म तो अपना स्वभाव है, धर्म पराधीन नहीं है; किसी के अवलम्बन से धर्म नहीं होता, धर्म किसी के देने से नहीं मिलता, किन्तु आत्मा की पहिचान से ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिए, उसे पूर्ण आनन्द का स्वरूप क्या है? वह किसे प्रगट हुआ है? - यह निश्चय करना चाहिए। जिस आनन्द को मैं चाहता हूँ, उसे पूर्ण अबाधित चाहता हूँ; अर्थात्, कोई आत्मा वैसी पूर्णानन्ददशा को प्राप्त हुए हैं और उन्हें पूर्णानन्ददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है, क्योंकि यदि पूर्ण ज्ञान न हो तो राग-द्वेष का अभाव नहीं हो सकता। इसलिए जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है - ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं। उनका, और वे क्या हैं? - इसका, जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिए। इसलिए कहा है कि पहले श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

देखो! इसमें उपादान-निमित्त की सन्धि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है? सत्य बात कौन कहता है? यह सब निश्चय करने के लिए निवृत्ति लेनी चाहिए। यदि स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी का प्रेम और संसार की रुचि में कमी न हो तो सत्समागम के लिए निवृत्ति नहीं ली जा सकती। जहाँ श्रुत का अवलम्बन लेने की बात कही गयी

है, वहाँ तीव्र अशुभभाव के त्याग की बात तो सहज ही आ गयी है और सच्चे निमित्तों की पहिचान करने की बात भी आ गयी है।

भाई! तुझे सुख चाहिए न? यदि सचमुच तुझे सुख चाहिए हो तो पहले यह निर्णय और ज्ञान कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे प्रगट होता है? सुख कहाँ है और कैसे प्रगट होता है? – इसका ज्ञान हुए बिना प्रयत्न करते–करते सूख जाए तो भी सुख प्राप्त नहीं होता, धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कहे गये श्रुतज्ञान के अवलम्बन से यह निर्णय होता है और यह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है।

जिसे धर्म प्राप्त करना हो, उसे धर्मी को पहचानकर, वे क्या कहते हैं? – इसका निर्णय करने के लिए सत्समागम करना चाहिए। जिसे सत्समागम से श्रुतज्ञान का अवलम्बन हुआ कि अहो! पूर्ण आत्मवस्तु उत्कृष्ट महिमावान् है – ऐसा परम स्वरूप मैंने अनन्त काल में कभी सुना भी नहीं था – ऐसा होने पर उसके स्वरूप की रुचि जागृत होती है और सत्समागम का रङ्ग लग जाता है; इसलिए उसे कुदेवादि अथवा संसार के प्रति रुचि नहीं होती।

यदि वस्तु को पहचाने तो प्रेम जागृत हो और उस ओर पुरुषार्थ झुके। आत्मा, अनादि से स्वभाव को भूलकर परभावरूपी परदेश में चक्कर लगाता है। स्वरूप से बाहर संसार में परिभ्रमण करते –करते परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी श्री परमगुरु मिले और वे सुनाते हैं कि पूर्ण हित कैसे हो सकता है? वे आत्मा के स्वरूप की पहचान कराते हैं, तब अपने स्वरूप को सुनकर किस धर्मी को उल्लास नहीं आयेगा? आयेगा ही। आत्मस्वभाव की बात सुनकर जिज्ञासु जीवों को महिमा जागृत होती ही है।



अहो! अनन्त काल से यह अपूर्व ज्ञान नहीं हुआ; स्वरूप से बाहर परभाव में परिभ्रमण करके अनन्त काल से व्यर्थ ही दुःख सहन किये हैं। यदि पहले यह अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया होता तो यह दुःख न होता। इस प्रकार स्वरूप की आकाँक्षा जागृत करे, रुचि उत्पन्न करे और इस महिमा को यथार्थतया रटते हुए स्वरूप का निर्णय करे। इस प्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो, उसे पहले श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिए।

भगवान की श्रुतज्ञानरूपी डोरी को दृढ़ता से पकड़कर, उसके अवलम्बन से स्वरूप में पहुँचा जा सकता है। श्रुतज्ञान के अवलम्बन का अर्थ है, सच्चे श्रुतज्ञान की रुचि का होना और अन्य कुश्रुतज्ञान में रुचि का न होना। जिसे संसार सम्बन्धी बातों की तीव्र रुचि दूर हो गयी है और श्रुतज्ञान में तीव्र रुचि जम गयी है और जो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए तैयार हुआ है, उसे अल्प काल में ही आत्मभान हो जाएगा। जिसके हृदय में संसार सम्बन्धी तीव्र रङ्ग जमा है, उसे परम शान्तस्वभाव की बात को समझने की पात्रता जागृत नहीं हो सकती।

यहाँ जो श्रुत का अवलम्बन शब्द रखा है, वह अवलम्बन तो स्वभाव के लक्ष्य से है, वापस न होने के लक्ष्य से है। समयसारजी में तो अप्रतिहत शैली से बात है। ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिए जिसने श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह आत्मस्वभाव का निर्णय करता ही है; वापस होने की बात ही समयसार में नहीं है।

संसार की रुचि को कम करके, आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य से जो यहाँ तक आया है, उसे श्रुतज्ञान के अवलम्बन से निर्णय अवश्य होगा। निर्णय न हो, यह हो ही नहीं सकता। साहूकार

के बही-खाते में दिवाले की बात ही नहीं होती; उसी प्रकार यहाँ दीर्घ संसार की बात ही नहीं है। यहाँ तो एक-दो भव में; अर्थात्, अल्प काल में ही मोक्ष जानेवाले जीवों की बात है। सभी बातों की हाँ-हाँ कहा करे और अपने ज्ञान में एक भी बात का निर्णय न करे – ऐसे 'ध्वजपुच्छल' जीवों की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सुहागा जैसी स्पष्ट बात है।

जो अनन्त संसार का अन्त लाने के लिए पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करने को निकले हैं – ऐसे जीवों का किया हुआ प्रारम्भ वापस नहीं होता, ऐसे लोगों की ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है। **पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ वापस नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती ही है।**

यहाँ पर एक ही बात को अदल-बदलकर बारम्बार कहा है; इसलिए रुचिवान् जीव उकताता नहीं है। जिस प्रकार नाटक की रुचिवाला आदमी नाटक में 'वंशमोर' कह कर भी अपनी रुचि की वस्तु को बारम्बार देखता है; उसी प्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मा की लगन लग गयी है और जो आत्मा का भला करने के लिए निकले हैं, वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रति समय खाते-पीते, बैठते-बोलते और विचार करते हुए निरन्तर श्रुत का ही अवलम्बन स्वभाव के लक्ष्य से करते हैं; किसी काल अथवा क्षेत्र की मर्यादा नहीं करते। उन्हें श्रुतज्ञान की रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गयी है कि वह कभी भी दूर नहीं होती। अमुक समय तक अवलम्बन करके फिर उसे छोड़ देने की बात नहीं है परन्तु श्रुतज्ञान के अवलम्बन से आत्मा का निर्णय करने को कहा गया है। जिसे सच्चे तत्त्व की रुचि है, वह अन्य समस्त कार्यों की प्रीति को गौण कर देता है।



**प्रश्न** – तब क्या सत् की प्रीति होने पर खाना-पीना और धन्धा-व्यापार इत्यादि सब छोड़ देना चाहिए? क्या श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिए? उसे सुनकर किया क्या जाए?

**उत्तर** – सत् की प्रीति होने पर तत्काल खाना-पीना इत्यादि सब छूट ही जाता हो – ऐसी बात नहीं है, किन्तु उस ओर की रुचि तो अवश्य कम होती ही है। पर में से सुखबुद्धि उड़ जाती है और सर्वत्र एक आत्मा ही आगे होता है; इसलिए निरन्तर आत्मा की ही धगश होती है। मात्र श्रुतज्ञान को सुनते ही रहना चाहिए – ऐसा नहीं कहा, किन्तु श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना चाहिए। श्रुत के अवलम्बन की धुन लगने पर देव-गुरु-शास्त्र-धर्म और निश्चय-व्यवहार इत्यादि समस्त पहलु जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिए। इसमें भगवान कैसे हैं? उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं? इन सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है; आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, तू ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता है।

इसमें यह बताया गया है कि देव-शास्त्र-गुरु कैसे होते हैं और उन देव-शास्त्र-गुरु को पहचानकर, उनका अवलम्बन लेनेवाला स्वयं क्या समझा होता है? हे जीव! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, जानना ही तेरा स्वभाव है, किसी पर का कुछ करना अथवा पुण्य-पाप के भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। यह सब जो बतलाते हों, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु हैं और इस प्रकार जो समझता है, वही देव -शास्त्र-गुरु के अवलम्बन से श्रुतज्ञान को समझा है, किन्तु जो राग से धर्म मनवाते हों और शरीराश्रित क्रिया, आत्मा करता है, यह मनवाते हों तथा जो यह कहते हों कि जड़कर्म, आत्मा को परेशान

करते हैं, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि वे वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा नहीं जानते और उससे विपरीत बतलाते हैं।

जो शरीरादि सर्व पर से भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा का स्वरूप बताते हों और यह बताते हों कि पुण्य-पाप का कर्तव्य आत्मा का नहीं है, वही सच्चे शास्त्र हैं, वही सच्चे देव हैं और वही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य से धर्म बतलाते हैं और जो यह बतलाते हैं कि शरीर की क्रिया का कर्ता आत्मा है तथा जो राग से धर्म होना बतलाते हैं, वे सब कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र हैं क्योंकि वे यथावत् वस्तुस्वरूप के ज्ञाता नहीं हैं और वे विपरीत स्वरूप ही बतलाते हैं। जो वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा न बताये और किञ्चित्मात्र भी विरुद्ध बताये, वह सच्चा देव, सच्चा शास्त्र या सच्चा गुरु नहीं हो सकता।

मैं आत्मा तो ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं; इस प्रकार पहले विकल्प के द्वारा देव-गुरु - शास्त्र के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करता है। ज्ञानस्वभाव का अनुभव होने से पहले की यह बात है। जिसने स्वभाव के लक्ष्य से श्रुत का अवलम्बन लिया है, वह अल्प काल में ही आत्मानुभव अवश्य करेगा। पहले विकल्प में यह निश्चय किया कि मैं पर से भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है, मेरे शुद्ध स्वभाव के अतिरिक्त देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलम्बन परमार्थतः नहीं है। मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभाववाला हूँ; इस प्रकार जिसने निर्णय किया उसे अनुभव हुए बिना कदापि नहीं रह सकता। यहाँ प्रारम्भ ही ऐसे बलपूर्वक किया है कि पीछे हटने की बात ही नहीं है।

पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ; इस प्रकार जिसने निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, उसका परिणाम पुण्य-पाप की ओर



से हटकर ज्ञायकस्वभाव की ओर गया है। उसे पुण्य-पाप के प्रति आदर नहीं रहा; इसलिए वह अल्प काल में ही पुण्य-पाप से रहित स्वभाव का निर्णय करके और उसमें स्थिरता करके, वीतराग होकर पूर्ण हो जाएगा। यहाँ पूर्ण की ही बात है। प्रारम्भ और पूर्णता के बीच कोई भेद रखा ही नहीं है। जो प्रारम्भ हुआ है, वह पूर्णता को लक्ष्य में लेकर ही हुआ है। सुनानेवाले और सुननेवाले दोनों की पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभाव की बात करते हैं, वे देव-शास्त्र-गुरु तो पवित्र ही हैं, उनके अवलम्बन से जिनने स्वीकार किया है, वे भी पूर्ण पवित्र हुए बिना कदापि नहीं रह सकते। पूर्ण को स्वीकार करके आया है तो पूर्ण अवश्य होगा; इस प्रकार उपादान-निमित्त की सन्धि साथ ही साथ है।

यहाँ आत्मानन्द को प्रगट करने की पात्रता का स्वरूप कहा जा रहा है। भाई! तुझे धर्म करना है न? तो तू अपने को पहिचान! सर्व प्रथम, सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे! तू है कौन? क्या क्षणिक पुण्य-पाप का करनेवाला तू है? - नहीं, नहीं; तू तो ज्ञान का कर्ता, ज्ञानस्वभावी आत्मा है। तू पर का ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़नेवाला नहीं है; तू तो मात्र ज्ञाता ही है - ऐसा निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारम्भ (सम्यग्दर्शन) का उपाय है। प्रारम्भ में; अर्थात्, सम्यग्दर्शन होने से पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में ही नहीं है।

मेरा सहजस्वभाव जानना है; इस प्रकार श्रुत के अवलम्बन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट हो गयी, उसे अन्तरङ्ग अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होने से पूर्व जिज्ञासु जीव, धर्म सन्मुख हुआ जीव, सत्समागम को प्राप्त हुआ, जीव

श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करता है।

मैं ज्ञानस्वभावी जाननेवाला हूँ। कहीं भी राग-द्वेष करके ज्ञेय में अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। चाहे जो हो, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ, मेरा ज्ञातास्वभाव, पर का कुछ करनेवाला नहीं है। जैसे, मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, वैसे ही जगत् के सब आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं। वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय भूले हैं; इसलिए दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो जाए। मैं किसी को बदलने में समर्थ नहीं हूँ, मैं परजीवों के दुःखों को दूर नहीं कर सकता, क्योंकि दुःख उन्होंने अपनी भूल से किया है; इसलिए वे यदि अपनी भूल को दूर करें तो उनका दुःख दूर हो सकता है। ज्ञान का स्वभाव किसी पर के लक्ष्य से अटकना नहीं है।

पहले जो श्रुतज्ञान का अवलम्बन बताया है, उसमें पात्रता आ चुकी है; अर्थात्, श्रुत के अवलम्बन से आत्मा का अव्यक्त निर्णय हो चुका है। तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है ? वह अब कहते हैं।

सम्यग्दर्शन से पूर्व श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बल से आत्मा के ज्ञानस्वभाव को अव्यक्तरूप से लक्ष्य में लिया है। अब, प्रगटरूप में लक्ष्य में लेते हैं, अनुभव करते हैं, आत्मसाक्षात्कार; अर्थात्, सम्यग्दर्शन करते हैं। वह कैसे ? उसकी बात यहाँ कहते हैं।

'पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये परपदार्थ को प्रसिद्धि की कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं, उनको मर्यादा में लेकर जिसने मतिज्ञान तत्त्व को आत्मसन्मुख किया है...' अप्रगटरूप निर्णय हुआ था, वह अब प्रगटरूप कार्य को लाता है; जो निर्णय किया था, उसका फल प्रगट होता है।



यह ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय जगत् के सभी आत्माएँ कर सकते हैं। सभी आत्माएँ परिपूर्ण भगवान ही हैं; इसलिए सब अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर सकने में समर्थ हैं। जो आत्मा का हित करना चाहता है, उसे वह हो सकता है, किन्तु अनादि काल से अपनी परवाह नहीं की है। हे भाई! तू कौन सी वस्तु है ? यह जाने बिना तू क्या करेगा ? पहले इस ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए। यह निर्णय होने पर अव्यक्तरूप में आत्मा का लक्ष्य हुआ, फिर पर के लक्ष्य और विकल्प से हटकर स्व का लक्ष्य प्रगटरूप में, अनुभवरूप में कैसे करना चाहिए ? वह बताते हैं –

आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये इन्द्रिय और मन से जो परलक्ष्य होता है, उसे बदलकर मतिज्ञान को स्व में एकाग्र करते हुए आत्मा का लक्ष्य होता है; अर्थात्, आत्मा की प्रगटरूप में प्रसिद्धि होती है। आत्मा का प्रगटरूप में अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और वही धर्म है।

**प्रश्न** – आत्मा के सम्बन्ध में कुछ समझ में न आये तो पुण्यरूप शुभभाव करना चाहिए या नहीं ?

**उत्तर** – पहले स्वभाव को समझना ही धर्म है, धर्म के द्वारा ही संसार का अन्त होता है; शुभभाव से धर्म नहीं होता और धर्म के बिना संसार का अन्त नहीं होता। धर्म तो अपना स्वभाव है; इसलिए पहले स्वभाव को समझना चाहिए।

**प्रश्न** – स्वभाव समझ में न आये तो क्या करना चाहिए ? समझने में देर लगे और एक-दो भव हो तो क्या अशुभभाव करके मर जाएँ ?

**उत्तर** – पहले तो रुचि से प्रयत्न करनेवाले को यह बात समझ में न आये – ऐसा हो ही नहीं सकता। समझने में विलम्ब हो तो वहाँ समझने के लक्ष्य से अशुभभाव को दूर करके, शुभभाव तो सहज होते हैं परन्तु यह जान लेना चाहिए कि शुभभाव से धर्म नहीं होता। जब तक किसी भी जड़ वस्तु की क्रिया और राग की क्रिया को जीव अपनी मानता है, तब तक वह यथार्थ समझ के मार्ग पर नहीं है।

यदि आत्मा की सच्ची रुचि हो तो समझ का मार्ग लिए बिना न रहे। सत्य चाहिए हो, सुख चाहिए हो तो यही मार्ग है। समझ में भले विलम्ब हो जाए, किन्तु मार्ग तो सच्ची समझ का ही लेना चाहिए न? सच्ची समझ का मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझ में आये बिना नहीं रहता है। यदि ऐसे मनुष्य अवतार में और सत्समागम के योग से भी सत्य नहीं समझे तो फिर सत्य समझने का ऐसा सुयोग मिलना दुर्लभ है।

जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और यहीं स्वरूप को भूल जाता है, वह परभव में जहाँ जाएगा, वहाँ क्या करेगा? शान्ति कहाँ से लाएगा? आत्मा की प्रतीति के बिना कदाचित् शुभभाव किये हों तो भी उस शुभ का फल जड़ में जाता है; आत्मा में पुण्य का फल नहीं आता। जिसने आत्मा की परवाह नहीं की और यहीं जो मूढ़ हो गया है, उसने यदि शुभभाव किए भी तो रजकणों का बन्ध हुआ और उन रजकणों के फल में भी उसे रजकणों का ही संयोग मिलेगा। रजकणों का संयोग मिला तो उसमें आत्मा के लिए क्या है? आत्मा की शान्ति तो आत्मा में है, किन्तु उसकी परवाह तो की ही नहीं है।



जो जीव, यहीं जड़ के साथ एकत्वबुद्धि करके जड़ जैसा हो गया है, अपने को भूलकर संयोगदृष्टि से मरता है, असाध्यरूप वर्तता है; अर्थात्, जिसे चैतन्यस्वरूप का भान नहीं है, वह जीते-जी ही असाध्य है। भले ही शरीर हिले-डुले और बोले, किन्तु यह जड़ की क्रिया है, उसका मालिक हुआ, किन्तु अन्तर में साध्य जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी जिसे खबर नहीं है, वह असाध्य; अर्थात्, चलता मुर्दा है। वस्तु का स्वभाव यथार्थरूप से सम्यक्दर्शनपूर्वक के ज्ञान से नहीं समझे तो जीव को स्वरूप का किञ्चित् लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञान से स्वरूप की पहचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसे ही 'शुद्ध आत्मा' ऐसा नाम प्राप्त होता है, वही समयसार है और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ' – ऐसा विकल्प छूटकर अकेला आत्मानुभव होता है, तभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है; यह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मा से पृथक् नहीं है; वे शुद्ध आत्मारूप ही हैं।

जिसे सत्य की आवश्यकता हो –ऐसे जिज्ञासु समझदार जीव को यदि कोई असत्य कहे तो वह उस असत्य की हाँ नहीं करता, वह असत्य का स्वीकार नहीं करता। राग से स्वभाव का अनुभव होगा – ऐसी बात उसे नहीं जँचती। जिसे सत्स्वभाव चाहिए हो, वह स्वभाव से विरुद्ध भाव की हाँ नहीं करता, उन्हें अपना नहीं मानता। वस्तु का स्वरूप शुद्ध है, उसका बराबर निर्णय किया है और राग से भिन्न पड़कर ज्ञान स्वसन्मुख होने पर जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ, वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म किस प्रकार होता है? धर्म करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए? इस सम्बन्ध में यह कथन चल रहा है।

धर्म के लिए सर्व प्रथम श्रुतज्ञान का अवलम्बन लेकर श्रवण –मनन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना कि 'मैं एक ज्ञानस्वभावी हूँ।' मेरे ज्ञानस्वभाव में ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी करने–धरने का स्वभाव नहीं है। इस प्रकार सत् समझने में जो काल व्यतीत होता है, वह भी अनन्त काल में नहीं किया हुआ, ऐसा अपूर्व अभ्यास है।

जीव को सत् की ओर की रुचि होती है; इसलिए वैराग्य जगता है और सम्पूर्ण संसार की रुचि उड़ जाती है। उसे चौरासी के अवतार का त्रास लगता है। 'अरे! यह त्रास क्यों? यह दुःख कब तक? स्वरूप का भान नहीं है और प्रतिक्षण पराश्रयभाव में रचा–पचा रहना, यह भी कोई मनुष्य जीवन है? तिर्यञ्च इत्यादि के दुःखों की तो बात ही क्या, परन्तु इस मानव को भी ऐसा दुःखी जीवन और मरण के समय स्वरूप के भान बिना असाध्य होकर मरना!' नहीं; इससे छूटने का उपाय करूँ और शीघ्र आत्मा को इन दुःखों से मुक्त करूँ। इस प्रकार संसार का भय होने पर स्वरूप समझने की रुचि होती है। आत्मवस्तु को समझने के लिए जो समय व्यतीत होता है, वह ज्ञान की क्रिया है – सत् का मार्ग है।

जिज्ञासुओं को प्रथम ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिए। मैं एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जाननेवाला है, पुण्य–पाप कोई मेरे ज्ञान का स्वरूप नहीं हैं। पुण्य–पाप के भाव अथवा स्वर्ग–नरकादि कोई मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

सच्चे श्रुतज्ञान के अवलम्बन के बिना और श्रुतज्ञान से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय किये बिना, आत्मा अनुभव में नहीं



आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना, वह कार्य है। आत्मा का निर्णय, वह उपादानकारण है और श्रुत का अवलम्बन, वह निमित्त है। श्रुत के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव का जो निर्णय किया, उसका फल उस निर्णय के अनुसार अनुभव करना ही है। आत्मा का निर्णय, वह कारण है और आत्मा का अनुभव, वह कार्य है; इस प्रकार यहाँ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जो निर्णय करता है, उसे अनुभव होता ही है – ऐसी बात की है। कारण के सेवन अनुसार कार्य प्रगट होता ही है।

अब, आत्मा का निर्णय करने के पश्चात् उसका प्रगट अनुभव किस प्रकार करना – यह बतलाते हैं। निर्णय के अनुसार ज्ञान का आचरण, वह अनुभव है। प्रगट अनुभव में शान्ति का वेदन लाने के लिए; अर्थात्, आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिए परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारण को छोड़ देना चाहिए। प्रथम, मैं ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा हूँ – ऐसा निश्चय करने के बाद आत्मा के आनन्द का प्रगटरूप से भोग करने के लिए; अर्थात्, वेदन करने के लिए, निर्विकल्प अनुभव करने के लिए, परपदार्थ की प्रसिद्धि के कारणभूत जो इन्द्रिय और मन के द्वारा परलक्ष्य से प्रवर्तमान ज्ञान है, उसे स्वसन्मुख करना चाहिए। देव–शास्त्र–गुरु इत्यादि परपदार्थों का लक्ष्य तथा मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान बुद्धि; अर्थात्, मतिज्ञान को सङ्कोच कर; अर्थात्, मर्यादा में लाकर स्वसन्मुख करना चाहिए। यही अन्तर अनुभव का पन्थ है और यही सहज शीतलस्वरूप, अनाकुल स्वभाव की छाया में बैठने का द्वार है।

पहले मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ – ऐसा यथार्थ निर्णय करके, तत्पश्चात् आत्मा का प्रगट अनुभव करने के लिए परसन्मुख ढलते

मति और श्रुतज्ञान को स्व तरफ एकाग्र करना। जो ज्ञान, विकल्प में अटकता था, उस ज्ञान को वहाँ से हटाकर स्वभावसन्मुख करना चाहिए। ज्ञान को आत्मसन्मुख करने से स्वभाव का अनुभव होता है।

जिसने मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर स्वसन्मुख किया है; अर्थात्, मतिज्ञान पर तरफ झुकता था, उसे मर्यादा में लेकर आत्मसन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनन्त संसार का नास्तिभाव और ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करने में अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभाव में भव नहीं है; इसलिए जिसके स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ जागृत हुआ है, उसे भव की शङ्का नहीं रहती। जहाँ भव की शङ्का है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है, वहाँ भव की शङ्का नहीं है। इस प्रकार ज्ञान और भव की एक-दूसरे में नास्ति है।

पुरुषार्थ के द्वारा सत्समागम से अकेले ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के पश्चात्, मैं अबन्ध हूँ या बन्धवाला हूँ; शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ; त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ? - इत्यादि जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती है, उनमें भी अभी आत्मशान्ति नहीं है। वे वृत्तियाँ, आकुलतामय हैं, आत्मशान्ति की विरोधी हैं। नयपक्ष के अवलम्बन से होनेवाले मन सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकल्पों को भी मर्यादा में लाकर; अर्थात्, उन विकल्पों को रोकने के पुरुषार्थ द्वारा श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने से शुद्धात्मा का अनुभव होता है। इस प्रकार मति और श्रुतज्ञान को आत्मसन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन की विधि है।

इन्द्रिय और मन के अवलम्बन से मतिज्ञान परलक्ष्य में प्रवर्तता था उसे, और मन के अवलम्बन से श्रुतज्ञान अनेक प्रकार के



नयपक्षों के विकल्प में अटकता था उसे; अर्थात्, परावलम्बन से प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को मर्यादा में लाकर अन्तर स्वभाव सन्मुख करके एक ज्ञानस्वभाव को पकड़कर; अर्थात्, लक्ष्य में लेकर निर्विकल्प अनुभव होकर तत्काल निजरस से ही प्रगट होनेवाले शुद्धात्मा का अनुभव करना, वह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

शुद्धस्वभाव आदि-मध्य और अन्तरहित त्रिकाल एकरूप है, उसमें बन्ध-मोक्ष नहीं है, वह अनाकुल स्वरूप है। 'मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ?' - ऐसे विकल्प से होनेवाली आकुलता से रहित है। पुण्य-पाप के आश्रय का लक्ष्य छूटने से अकेला आत्मा ही अनुभव में आता है; केवल एक आत्मा में पुण्य-पाप के कोई भाव नहीं हैं। मानों कि सम्पूर्ण विश्व पर तैरता हो; अर्थात्, समस्त विभावों से पृथक् हो गया हो - ऐसा चैतन्यस्वभाव पृथक् अखण्ड प्रतिभासमय अनुभव आता है। आत्मा का स्वभाव पुण्य-पाप के ऊपर तैरता है; अर्थात्, उसमें एकमेक नहीं हो जाता, उसरूप नहीं हो जाता, परन्तु उनसे अलग का अलग रहता है तथा अनन्त है; अर्थात्, जिसके स्वभाव का कभी अन्त नहीं है; पुण्य-पाप तो अन्तवाले हैं, ज्ञानस्वभाव अनन्त है और विज्ञानघन है। अकेला ज्ञान का ही पिण्ड है। अकेले ज्ञानपिण्ड में राग-द्वेष किञ्चित्मात्र भी नहीं हैं। अज्ञानभाव से राग का कर्ता होता था परन्तु स्वभावभाव से राग का कर्ता नहीं है।

अखण्ड आत्मस्वभाव का निर्णय करने के बाद समस्त विभावभावों का लक्ष्य छोड़कर, जब यह आत्मा विज्ञानघन; अर्थात्, जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकता - ऐसे ज्ञान का घन

पिण्डरूप परमात्मस्वरूप समयसार का अनुभव करता है, तब वह स्वयं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप है।

इसमें निश्चय-व्यवहार दोनों आ जाते हैं। अखण्ड विज्ञानघन -स्वरूप ज्ञानस्वभावी आत्मा, वह निश्चय है और परिणति को स्वभाव सन्मुख करना, वह व्यवहार है। मति-श्रुतज्ञान को स्व -सन्मुख झुकाने के पुरुषार्थरूपी जो पर्याय, वह व्यवहार है और अखण्ड आत्मस्वभाव, वह निश्चय है। जब मति-श्रुतज्ञान को स्व-सन्मुख करके आत्मा का अनुभव किया, उसी समय आत्मा सम्यक्रूप से दिखाई देता है और उसकी श्रद्धा हो जाती है - यह सम्यग्दर्शन प्रगट होने के समय की बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरस का अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है। आत्मा का सहज आनन्द प्रगट होता है, आत्मिक आनन्द का उछाल आता है, अन्तर में आत्मशान्ति का वेदन होता है, आत्मा का सुख अन्तर में है, वह प्रगट अनुभव में आता है, इस अपूर्व सुख का मार्ग सम्यग्दर्शन ही है। 'मैं समयसार भगवान आत्मा हूँ' - ऐसा जो निर्विकल्प शान्तरस अनुभव में आता है, वही समयसार और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद लिये हैं, आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनस्वरूप है।

सर्व प्रथम, आत्मा का निर्णय करने के बाद अनुभव करने के लिए कहा है। सर्व प्रथम, 'मैं निश्चय ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्य कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है', ऐसा निर्णय करने के लिए सत्समागम में सच्चे श्रुतज्ञान को पहचानकर उसका परिचय करना चाहिए। सत्श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के बाद मति-श्रुतज्ञान को उस ज्ञानस्वभाव के सन्मुख करने का प्रयत्न



करना चाहिए, निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना चाहिए, यही सम्यक्त्व का मार्ग है। इसमें तो बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है, इसमें बाहर में कुछ करना नहीं आया है परन्तु ज्ञान में ही समझ और एकाग्रता का प्रयत्न करना आया है। ज्ञान में अभ्यास करते-करते जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप यह आत्मा प्रगट होता है, यही जन्म-मरण के अभाव का उपाय है।

आत्मा, अकेला ज्ञायकस्वभाव है, उसमें दूसरा कुछ करने का स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होने से पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिए; इसके अलावा दूसरा कुछ माने तो उसे व्यवहार से भी आत्मा का निश्चय नहीं है। बाहर में दूसरे लाख उपाय करे, परन्तु ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही ज्ञान होता है। आत्मा की तरफ लक्ष्य और श्रद्धा के बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान हुआ कहाँ से?

पहले देव-शास्त्र-गुरु के सेवन से अनेक प्रकार से श्रुतज्ञान जाने और उन सबमें से एक ज्ञानस्वभावी आत्मा को पहचाने, फिर उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करने के लिए मति-श्रुतज्ञान की बाहर झुकती हुई पर्यायों को स्वसन्मुख करने पर तत्काल निर्विकल्प निज स्वभावरस आनन्द का अनुभव होता है। परमात्मस्वरूप का दर्शन जिस समय करता है, उसी समय आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है।

जिसे आत्मा की प्रतीति आ गयी है, उसे बाद में विकल्प आवें, तब भी जो आत्मदर्शन हो गया है, उसका तो भान है; अर्थात्, आत्मानुभव के बाद विकल्प उत्पन्न पर सम्यग्दर्शन चला नहीं

जाता। समयग्दर्शन, वह कोई वेष नहीं है परन्तु स्वानुभवरूप परिणमित आत्मा ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव करने के बाद भी शुभभाव आते अवश्य हैं परन्तु आत्महित तो ज्ञानस्वभाव का अनुभव करने से ही होता है। जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे शुभाशुभभाव भी मिटते जाते हैं। बहिर्लक्ष्य से होनेवाला समस्त वेदन दुःखरूप है। अन्दर में आत्मा शान्तरस की मूर्ति है, उसके लक्ष्य से होनेवाला वेदन ही सुख है। सम्यग्दर्शन, वह आत्मा का गुण है और गुण कभी गुणी से पृथक् नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

हे भव्य! यह आत्म-कल्याण का छोटे से छोटा; अर्थात्, जो सबसे हो सके - ऐसा उपाय है। दूसरे सब उपाय छोड़कर यही करने योग्य है, हित का साधन लेशमात्र भी बाहर में नहीं है। मोक्षार्थी को सत्समागम में एक आत्मा का ही निश्चय करना चाहिए। वास्तविक तत्त्व की श्रद्धा किये बिना अन्तरस्वरूप का वेदन नहीं होता। पहले तो अन्तर से सत् का स्वीकार हुए बिना सत्स्वरूप का ज्ञान नहीं होता और सत्स्वरूप के ज्ञान बिना भव-बन्धन की बेड़ी नहीं टूटती और भव-बन्धन के अन्त बिना जीवन किस काम का? भव के अन्त की श्रद्धा बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद-देवपद हो, परन्तु उसमें आत्मा को क्या है? आत्मा के भान बिना तो वह पुण्य और देवपद इत्यादि सब धूलधानी ही हैं; उनमें आत्म की शान्ति का अंश भी नहीं है। इसलिए पहले श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञानस्वभाव का दृढ़ निश्चय करने



पर प्रतीति में भव की शङ्का नहीं रहती और जितनी ज्ञान की दृढ़ता होती है, उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

भाई, प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, इसे तूने नहीं जाना है। तू अपनी प्रभुता के भान बिना बाहर में जिस-तिस के गीत गाया करता है, तो उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत तो गाये परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के सामने कहता है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो।' वहाँ सामने से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो...' तात्पर्य यह है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है, उसे तू पहचान।

शुद्धात्मस्वरूप का वेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो - जो कहो वह यह एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहा जाए, जो कुछ है, वह यह आत्मा ही है। उसे ही भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद अथवा साधुपद - यह सब एक आत्मा में ही समाहित होते हैं। समाधिमरण, आराधना, मोक्षमार्ग इत्यादि भी शुद्ध आत्मा में ही समाहित होते हैं - ऐसे आत्मस्वरूप की समझ ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही समस्त धर्मों का मूल है। ●

*[ समयसार, गाथा 144 पर दिनाङ्क 03 मई 1945 का प्रवचन ]*

*[ आत्मधर्म ( गुजराती ) वर्ष-2, श्रावण माह, विक्रम संवत् 2001, एवं सम्यग्दर्शन ( गुजराती ), भाग-1, पृष्ठ 98-119, ]*

# 20. आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य

आत्मार्थी का पहला कर्तव्य सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो? - यह बात भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार की तेरहवीं गाथा में अलौकिक प्रकार से कहा है। नव तत्त्व के परिज्ञानपूर्वक उसमें से शुद्धात्मा की अनुभूति किस प्रकार करना? - यह बात पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस गाथा पर प्रवचन करते हुए विस्तार से समझाई है। सम्यक्त्व के पिपासु जीवों के लिए इन प्रवचनों की लेखमाला अत्यन्त प्रेरणाकारी होने से यहाँ प्रस्तुत है।

इस लेखमाला में निम्न नौ प्रकरण हैं –

(1) भव-भ्रमण के मूल का छेदक और मोक्षसुख प्रदायक निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो?

(2) चैतन्य भगवान के दर्शन के लिए आँगन कैसा हो?

(3) निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग।

(4) नव तत्त्व का ज्ञान, सम्यग्दर्शन का व्यवहार।

(5) भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन।

(6) नव तत्त्व का स्वरूप और जीव-अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता।

(7) सम्यग्दर्शन के लिए अपेक्षित भूमिका।

(8) नव तत्त्व के ज्ञान का प्रयोजन : शुद्धात्मा का अनुभव।

(9) भगवान आत्मा की प्रसिद्धि।

उक्त प्रकरणों का विशद् स्पष्टीकरण क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है।



### आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य (1)

### भवभ्रमण के मूल का छेदक और मोक्षसुख प्रदायक

## 21. निश्चयसम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो?

प्रथम, धर्म की शुरूआत अर्थात् सम्यग्दर्शन कैसे हो? – उसकी यह बात है। आत्मा में शरीरादि परवस्तुएँ तो है ही नहीं और अवस्था में एक समयमात्र का विकार अर्थात् संसार है, वह भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सम्पूर्ण चैतन्यवस्तु को एक समय के विकारवाली मानना, वह अधर्म है। आत्मा का स्वभाव तो एक समय में सब जानने की सामर्थ्यवाला है। आत्मा, अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसमें वर्तमान ज्ञान की अवस्था को अन्तरोन्मुख करके, नित्य स्वभाव के साथ एकरूप करना और पूर्ण चैतन्यद्रव्य को श्रद्धा में स्वीकार करना – इसका नाम धर्म की शुरूआत है।

ऐसे परिपूर्ण आत्मा की पहचान करने के लिए कैसी मान्यता छोड़नी पड़ेगी? समस्त विपरीतमान्यताएँ छोड़ना पड़ेगी। जो निमित्त से, विकार से अथवा पराश्रय से धर्म मानते-मनवाते हैं – ऐसे कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की मान्यता तो सम्यक्त्व के जिज्ञासु को सर्व प्रथम ही छोड़ देना चाहिए और वर्तमान ज्ञान की अपूर्णदशा के आश्रय से कल्याण होता है – यह मान्यता भी छोड़ देना चाहिए।

आत्मा में निमित्त इत्यादि परवस्तुओं का अभाव है, क्षणिक विकार का निषेध है और अपूर्ण पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है; आत्मा तो अनन्त गुणों से परिपूर्ण है, उसकी श्रद्धा करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है।

अहा! आठ वर्ष की ज्ञानी राजकुमारी को भी अन्तर में ऐसा यथार्थ भान होता है; इसलिए अरे! 'हम तो गाँव में पैदा हुए, अल्प बुद्धिवाले हैं और हमारा अधिकांश समय तो व्यापार-धन्धे में चला गया है तो अब हमें ऐसा आत्मा कैसे समझ में आ सकता है?' - ऐसा मत मान बैठना। सभी समझ सके, वैसा आत्मा है। प्रत्येक आत्मा में पूर्ण ज्ञान-सामर्थ्य भरा है परन्तु नजर अन्तरोन्मुख होना चाहिए। अन्तर में नजर करते ही निहाल कर दे - आत्मा ऐसी वस्तु है। नजर करते ही निहाल हो जाए - ऐसा भगवान आत्मा, चैतन्य का भण्डार है।

कोई यह मानता है कि अल्प विकासवाली क्षयोपशमदशा, वह क्षायिकभाव का कारण होती है तो वह भी पर्यायबुद्धि अर्थात् व्यवहार की मुख्यतावाला / व्यवहारमूढ़ है। अखण्ड परिपूर्ण आत्मा का आश्रय किये बिना क्षायिकभाव प्रगट नहीं होता।

जिस जिज्ञासु को ऐसा पूरा आत्मा मानना हो, उसे निमित्त और विकार से धर्म मनवानेवाले कुगुरु-कुदेव इत्यादि की सङ्गति छोड़ना चाहिए, उनका आदर और प्रशंसा छोड़ना चाहिए तथा अपनी पर्याय में सच्चे देव-गुरु की प्रशंसा इत्यादि का जो शुभभाव होता है, उस शुभराग में भी सन्तोष नहीं मान लेना चाहिए। उस राग को धर्म का कारण नहीं मानना चाहिए और ज्ञान के वर्तमान पराश्रित विकास की प्रशंसा अथवा अहङ्कार भी छोड़ना चाहिए। यदि वर्तमान



विकास को ही सम्पूर्ण स्वरूप मानें तो उसकी प्रशंसा तथा अहङ्कार हुए बिना नहीं रह सकता; अतः जो जीव परिपूर्ण अखण्ड चैतन्यतत्त्व को मानता है, वह जीव, अल्प विकास को अपना पूर्ण स्वरूप नहीं मानता; इसलिए उसे उस विकास का अहङ्कार या प्रशंसा नहीं होती और वह वर्तमान पर्याय को अभेद परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख करके, उसकी प्रतीति करता है, वही निश्चयसम्यग्दर्शन और अपूर्व धर्म है।

वर्तमान ज्ञान के विकास जितना ही अपने को मानकर न अटकते हुए; वर्तमान ज्ञान को अन्तरस्वभाव में झुकाने से, अपूर्णता अथवा पर्याय की मुख्यता दिखाई नहीं देती अर्थात् आत्मा परिपूर्ण ही प्रतीति में आता है। इस प्रकार शुद्धनय द्वारा परिपूर्ण आत्मा को प्रतीति में लेना ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है।

यहाँ शिष्य **प्रश्न** करता है कि 'आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है' - ऐसा मान लिया तो वह सम्यग्दर्शन है या नहीं।

उसका **समाधान** यह है कि ऐसी ऊपरी मान्यता नहीं चलती है। सर्वज्ञदेव ने जैसा आत्मा कहा है, वैसा पहचानकर, अन्तर में रुचि लगाका द्रव्यस्वभाव में पर्याय की अभेदता होने पर ही आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा माना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त हमने 'आत्मा को ज्ञाता-दृष्टा मान लिया' - ऐसा कहने वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता; अन्तर में पर्याय को झुकाकर, उसका वेदन-अनुभवन होना चाहिए।

अरे! सम्पूर्ण जीवन विषय-कषाय में बिताया, शरीर की सेवा में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किये बिना जीवन को धूलधानी कर दिया; तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदलकर

आत्मा की रुचि करे तो यह समझा जा सकता है और अपूर्व कल्याण होता है। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि कुँवरियाँ / लड़कियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किञ्चित् भी कम मानना हमको नहीं पोषाता; हम तो अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अन्तर स्वभाव के अवलोकन तरफ झुकने पर आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है; इसलिए हमें यह नहीं समझ में आ सकता – ऐसा नहीं मानना चाहिए। समस्त आत्माएँ चैतन्यस्वरूप हैं और पूरा-पूरा समझ सके – ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है।

आत्मा का जैसा स्वभाव है, वैसा अनुभव किये बिना आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है – ऐसा मान लेने मात्र से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। श्री सर्वज्ञ भगवान की वाणी में जैसा आत्मा कहा गया है, वैसा निर्णय में लेकर अनुभव करना चाहिए। श्री सर्वज्ञभगवान, एक समय में तीन काल-तीन लोक को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं। ऐसे सर्वज्ञभगवान ने आत्मा कैसा कहा है? जैसे स्वयं पूर्ण हैं, वैसा ही आत्मा कहा है, उससे कम नहीं कहा है। सर्वज्ञभगवान के ज्ञान में रागरहितरूप से समस्त वस्तुएँ प्रत्यक्ष भिन्न-भिन्न एक साथ ज्ञात होती हैं। ऐसे सर्वज्ञभगवान, आत्मा का स्वरूप अपूर्ण अथवा विकारी नहीं बतलाते, अपितु प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है – ऐसा सर्वज्ञभगवान बतलाते हैं। इस प्रकार आत्मा का परिपूर्ण स्वरूप बतलानेवाले सर्वज्ञदेव कैसे होते हैं? उनके साधक-सन्तों की दशा कैसी होती है और उनकी वाणी कैसी होती है? – ऐसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पहचान तो सर्व प्रथम करना चाहिए।



सर्वज्ञभगवान कहते हैं कि हे भाई! यदि तुझे धर्म करना हो तो तुझे अपने आत्मा को अपूर्ण अथवा विकारी मानना नहीं चलेगा। यदि तू आत्मा को अपूर्णतावाला अथवा विकारवाला ही मान लेगा तो तेरे आत्मा में से अपूर्णता और विकार का अभाव किस प्रकार होगा? आत्मा को अपूर्ण मानने से अपूर्णता नहीं मिटती, अपितु पूर्ण आत्मा की श्रद्धा करने से अपूर्णता क्रम-क्रम से नाश हो जाती है।

प्रत्येक आत्मा प्रभु है, पूर्ण सामर्थ्यवान् है; अवस्था में अपूर्णता भले ही हो, परन्तु सदा अपूर्णता ही रहा करे और पूर्णता प्रगट ही नहीं हो सके – ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। पर्याय से भी परिपूर्ण होने का प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है; प्रत्येक आत्मा निर्लेप, निर्दोष परिपूर्ण परमात्मा है – ऐसा भगवान की वाणी का पुकार है। अपने ऐसे पूर्ण आत्मा को पहचानकर, उसके अनुभवसहित सम्यग्दर्शन होता है और तभी धर्म की शुरूआत होती है; इसके अतिरिक्त धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

श्री अरहन्त भगवान कहते हैं कि अहो! पूर्ण चैतन्यघनस्वभाव पर दृष्टि देकर अन्तर्मुख एकाग्र होकर मैंने केवलज्ञान प्रगट किया है। प्रत्येक जीव के अन्तर में चैतन्य-समुद्र लबालब उछल रहा है, उसमें अन्तर्दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। ऐसा परिपूर्ण चैतन्य आत्मा है, उसका भान किये बिना बाहर की अर्थात् देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा से सच्चा सम्यक्त्व नहीं हो जाता है।

भाई! यह बात तो अपना हित करने के लिए है, पर का तो कोई कुछ कर ही नहीं सकता। अज्ञानी, मात्र अभिमान करके संसार में परिभ्रमण करता है। आत्मा का कल्याण कैसे हो? – यह उसकी

बात है। भाई! तू अपना तो कर..., अपना तो सुधार...., अपना हित करने के लिए निज स्वभाव में अन्तर्मुख हो जा... अपने पूर्ण स्वरूप को दृष्टि में ले। भाई! यह देह तो क्षण में छूट जाएगी। अवस्था में अल्पज्ञता होने पर भी सम्पूर्ण चेतनतत्त्व का स्वीकार करनेवाला और अल्पज्ञता का निषेध करनेवाला जीव ही सम्यग्दृष्टि है। अहो! जगत् को यह आत्मतत्व की बात तो सर्व प्रथम समझने योग्य है। दूसरा कुछ भले ही आवे या न आवे, परन्तु यह बात तो अवश्य समझने योग्य है। यह समझे बिना कल्याण नहीं हो सकता। यह समझने से ही भव का अन्त आता है।

सर्वज्ञभगवान की वाणी में वस्तुस्वरूप की परिपूर्णता प्रसिद्ध की गयी है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर है, उसे किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं होती तथा प्रत्येक जड़ परमाणु भी स्वभाव से परिपूर्ण जड़ेश्वर भगवान है। जड़ और चेतन प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र और परिपूर्ण है। कोई तत्त्व किसी दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं माँगता है। इस प्रकार समझकर अपने परिपूर्ण आत्मा की श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है।

समयसार कलश सात में आचार्यदेव कहते हैं कि –

**अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।**
**नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति॥**

***अर्थात्***.... तत्पश्चात् शुद्धनय के आधीन जो भिन्न आत्मज्योति है, वह प्रगट होती है कि जो नव तत्त्वों में प्राप्त होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

जो भिन्न आत्मज्योति थी, वही प्रगट हुई है। पर्याय की दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व दिखते हैं परन्तु एकरूप चैतन्यज्योति अर्थात् स्वभाव की दृष्टि से देखने पर उसमें नव तत्त्व के भङ्ग नहीं हैं और नव तत्त्व के लक्ष्य से होनेवाले राग से भी वह भिन्न है – ऐसे शुद्ध आत्मा को देखनेवाले ज्ञान को शुद्धनय कहते हैं। भगवान! तू अन्दर से श्रद्धा–ज्ञान करके, वस्तु को पहचान तो सही! नव तत्त्व की रागमिश्रित श्रद्धा, वह पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म का कारण नहीं है। नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा है। वह व्यवहारसम्यक्त्व, शुभराग है; उसे वस्तुतः सम्यक्त्व मानना तो मिथ्यात्व है।



अहो! आचार्यदेव कहते हैं कि जब एक अखण्ड चैतन्यस्वभाव की दृष्टि छोड़कर मात्र नव तत्त्व के भेदों का अनुभव करना भी मिथ्यात्व है तो फिर कुदेवादि की श्रद्धा की बात ही कहाँ रही? उसकी तो बात ही यहाँ नहीं ली गयी है।

अभेद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् धर्मी को नव तत्त्वादि के विकल्प होने पर भी, उसकी दृष्टि भिन्न एकाकार आत्मज्योति पर है। नव तत्त्व का ज्ञान करने पर भी आत्मज्योति अपने एकत्व को नहीं छोड़ती अर्थात् धर्मी की दृष्टि एकरूप चैतन्यज्योति से नहीं हटती है।

जो जीव, मात्र नव तत्त्व का रागसहित विचार करता है और भिन्न एकरूप आत्मा का अनुभव नहीं करता, वह तो मिथ्यात्वी है। नव तत्त्व के भेद में रहने से एकरूप आत्मा ज्ञात नहीं होता – अनुभव नहीं आता, किन्तु एकरूप अनुभव करने पर उसमें नव तत्त्व का रागरहित ज्ञान समाहित हो जाता है। अन्दर में 'यह बात

मुझे नहीं समझ में आती' – ऐसी बुद्धि रखकर सुनेगा तो उसे समझने का यथार्थ प्रयत्न कहाँ से होगा? आज यह बात मैं अभी सुन रहा हूँ परन्तु पूर्ण आत्मा की बड़ी बात कल मुझे याद रहेगी या नहीं रहेगी? – ऐसी भी जिसे शङ्का होती है तो वह 'अहो! यह मेरे आत्मा की अपूर्व बात है, मैं अन्तर्मुहूर्त में एकाग्र होकर इसका अनुभव करूँगा' – ऐसी होंश और निःशङ्कता कहाँ से लाएगा और ऐसी निःशङ्कता के बिना उसका प्रयत्न अन्तर्मुख कैसे हो पाएगा? अभी भी क्या कहा है? – यह अन्तर में पकड़कर याद रहने की भी जिसे शङ्का है, उसे अन्तरसन्मुख होकर, वैसा अनुभव कैसे होगा? मैं परिपूर्ण केवलीभगवान जैसा हूँ, एक समय में अनन्त लोकालोक को जानने की सामर्थ्य मुझमें है, उसमें अन्तर एकाग्र होऊँ, इतनी ही बात है। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य का विचार करना चाहिए।

नव तत्त्व के भेद की श्रद्धा छोड़कर, अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से रागरहित श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यक्त्व है। अखण्ड चैतन्यस्वभाव के आश्रय से नव तत्त्व का रागरहित ज्ञान हो जाता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव समयसार गाथा-13 में कहते हैं कि इस प्रकार भूतार्थ से एक आत्मा को जानना, वह सम्यग्दर्शन है।

**भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।**
**आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥**

**भूतार्थ से जाने अजीव जीव, पुण्य पाप रु निर्जरा।**
**आस्रव संवर बंध मुक्ति, ये हि समकित जानना॥**

***अर्थात्*** भूतार्थनय से ज्ञात जीव, अजीव और पुण्य, पाप तथा



आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

यहाँ नव तत्त्वों को भूतार्थनय से जानने को सम्यक्त्व कहा है, उसमें 'भूतार्थ' कहने से नव तत्त्व के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अन्तर चैतन्यस्वभाव सन्मुख ढलने की बात आयी है। भूतार्थ एकरूप स्वभाव की ओर ढलकर, नव तत्त्वों का रागरहित ज्ञान कर लिया है अर्थात् नव तत्त्वों में से एकरूप अभेद आत्मा को पृथक् करके श्रद्धा की है, वह वास्तव में सम्यक्त्व है।

अकेले नव तत्त्व के लक्ष्य में अटककर, नव तत्त्व की श्रद्धा करना, वह भी अभी सम्यक्त्व नहीं है। जिसे अभी यह भी नहीं पता हो कि नव तत्त्व क्या है? उसे तो व्यवहारसम्यक्त्व भी नहीं है। व्यवहारसम्यक्त्व के बिना तो किसी को सीधा निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता और व्यवहारसम्यक्त्व से भी निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो जाता। पहले जीव-अजीवादि नव तत्त्व क्या हैं? वह समझना चाहिए। मैं जीव हूँ, शरीरादि अजीव हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ।

नव तत्त्व में पहला जीवतत्त्व है। जीव किसे कहना? शरीरादि जीव नहीं हैं, राग भी वास्तव में जीव नहीं हैं और अल्प ज्ञानदशा भी जीवतत्त्व का वास्तविक स्वरूप नहीं हैं। जीव तो परिपूर्ण चैतन्यमय अनन्त गुण का एकरूप पिण्ड है। मैं परिपूर्ण परमात्मा के समान हूँ, रागादि रहित चैतन्यस्वरूप हूँ; मुझमें निमित्त का अभाव है और रागादि का निषेध है; इस प्रकार पहले रागसहित विचार से जीव को मानता है, उसे भी अभी सम्यक्त्व नहीं है तो फिर जो पहले व्यवहार से – रागमिश्रित विचार से इतना भी नहीं जानता, वह तो एक चैतन्यतत्व का अनुभव किस प्रकार करेगा? वस्तुस्वरूप को समझने-समझाने पर नव तत्त्व का विकल्प आये

बिना नहीं रहता। भेद किये बिना समझाना किस प्रकार? परन्तु उस भेद के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

मैं जीव हूँ, शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीवतत्त्व हैं। वह अजीव वस्तु उसके द्रव्य-गुण-पर्यायवाली है; इसलिए उसकी पर्याय उससे स्वयं से ही होती है; मुझसे नहीं होती। शरीर की क्रिया जीव के कारण नहीं होती, क्योंकि जीव और अजीव दोनों तत्त्व पृथक् हैं। इस प्रकार वह तत्त्वों को अलग-अलग माने, तब उसने जीव-अजीव इत्यादि तत्त्वों को व्यवहार से माना कहा जाता है। नव तत्त्वों को, नवरूप से अलग-अलग मानने को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं परन्तु जीव-अजीव सबको एकमेक मानना अर्थात् जीव, अजीव का कर्ता है - ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है।

आत्मा, शरीर की क्रिया कर सकता है - जो ऐसा मानता है, उसे तो जीव-अजीव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। नव तत्त्वों को, नव तत्त्वरूप से भिन्न मानना, उस रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यक्त्व कहा जाता है और नव तत्त्व के विकल्प से पार होकर अभेद चैतन्यतत्त्व की अन्तर्दृष्टि करना, वह परमार्थ श्रद्धा है। भाई! यह अपूर्व बात है।

**प्रश्न** - परन्तु साहेब! आत्मा की समझ में बुद्धि नहीं लगती है न?

**उत्तर** - देखो भाई! बुद्धि अन्यत्र तो लगती है न? तो दूसरी जगह बुद्धि लगती है और आत्मा में नहीं लगती, इसका कोई कारण? संसार की पढ़ाई में और व्यापार-धन्धा इत्यादि में तो बुद्धि को लगाता है और अन्तर-चैतन्य के समझने में बुद्धि को नहीं



लगाता तो उसे इसमें अपना हित भासित नहीं हुआ है। यदि वास्तव में ऐसा भासित हो कि चैतन्यतत्त्व की समझ में ही मेरा हित है तो उसमें अपनी बुद्धि लगे बिना रहेगी ही नहीं। अहो! इसमें मेरा कल्याण है, इसमें मेरे प्रयोजन की सिद्धि है; इस प्रकार उसे चैतन्यतत्त्व की महिमा भासित नहीं हुई है। यदि चैतन्य की रुचि हो तो उसमें बुद्धि लगे बिना नहीं रह सकती और यह बात समझ में न आवे - ऐसा भी नहीं हो सकता है। ● *[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 83-91 ]*

## सहज अद्भुत शान्त मुनिदशा

मुनिराज को देह में भी उपशमरस बरसता है, शरीर भी शान्त... शान्त... शान्त। अरे! वचन में भी कहीं चपलता अथवा चञ्चलता दिखाई नहीं देती - ऐसे शान्त होते हैं। उन मुनिराज को निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनको देह की नग्नदशा निमित्तरूप होती ही है परन्तु वह अथवा पञ्च महाव्रत के शुभविकल्प भी चारित्र नहीं हैं, उनसे मोक्ष नहीं है; मोक्ष तो अन्दर शुद्धात्मद्रव्य -सामान्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होनेवाली स्वरूप स्थिरता से ही होता है। वह स्वरूप स्थिरता उस मुनिदशा में है। अन्तरङ्ग में प्रगट होनेवाली वह सहज मुनिदशा अद्भुत है। मुनिराज की मुद्रा भी शान्तरस से नितरती होती है। अहा! ऐसी बात है।

*( -वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 197 )*

## आत्मार्थी का पहला कर्तव्य – ( 2 )

## चैतन्य भगवान के दर्शन के लिए

# 22. आँगन कैसा हो ?

निश्चय अर्थात् सच्चा सम्यक्त्व किसे कहना ? जो सम्यक्त्व अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करनेवाले अनन्त जीवों ने कभी एक सैकेण्डमात्र भी प्राप्त नहीं किया, वह सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? – उसका उपाय यहाँ बतलाया जा रहा है। आत्मा का जैसा स्वभाव है, उसकी समझ करके, उसका अन्तर में घोलन करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है और वह प्रथम धर्म है।

शरीरादि परवस्तु और विकार ही मैं हूँ – ऐसा मानकर, जीव अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव को चूक जाता है, उसे भगवान, मिथ्यात्व अर्थात् अधर्म कहते हैं। उस विपरीतमान्यता का अभाव करके, ध्रुव चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन, कार्य है तो उसका उपाय क्या है ? यही कि स्वभाव सन्मुखता की रुचि करके उसका अन्तर्विचार करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है। जो शुद्ध आत्मस्वभाव की रुचि और लक्ष्य है, वही सम्यग्दर्शन का निश्चय उपाय है।

श्री सर्वज्ञदेव कहते हैं कि हम ज्ञानस्वरूप आत्मा है। अन्तर्मुख होकर स्वभाव का विश्वास करके, उसमें एकाग्र होने से हमारी पूर्ण



शुद्ध रागरहित केवलज्ञानदशा प्रगट हुई है। तू भी हमारे जैसा आत्मा है और तुझमें भी हमारे जितनी ही परिपूर्ण सामर्थ्य है। हमारी अवस्था में से रागादि का अभाव हो गया है क्योंकि वह हमारा स्वरूप नहीं था; अत: तेरी अवस्था में जो मिथ्यात्व-रागादि हैं, वह तेरा भी स्वरूप नहीं हैं, अपितु तू भी विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इस प्रकार अपने परमार्थस्वरूप का अनुमान करके, उसकी रुचि कर – यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का उपाय है।

शरीर-मन-वाणी इत्यादि तो जड़ हैं, अजीव हैं; वे आत्मा से भिन्न हैं – ऐसा दृष्टिगोचर होता है और क्रोधादि विकारीभाव तो नये-नये करे तो होते हैं, न करे तो नहीं होते – ऐसा अनुभव में आता है। पूर्व में काम-क्रोधादि की तीव्र विकारी वासना हुई हो, उसका वर्तमान ज्ञान में विचार करने से उनका ज्ञान होता है परन्तु वह विकारी वासना वर्तमान में प्रगट नहीं होती; इसलिए वह विकारी वासना, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं है; ज्ञान ही आत्मा का स्वरूप है। इस प्रकार अनुमान से आत्मा के स्वभाव को लक्ष्य में लेकर निर्णय करना, वह सम्यग्दर्शन का कारण है।

किसी को तीव्र क्रोधावेश में किसी की हत्या करने की वृत्ति उत्पन्न हुई और उसने दो-चार हत्याएँ कर डालीं; तत्पश्चात् जब वह वृत्ति रुक गयी, तब वह उसका पश्चाताप करता है। उस समय पूर्व में हत्या करने का जो क्रोध का वेग था, वह वर्तमान में नहीं आता, क्योंकि वह चैतन्य का स्वभाव नहीं है। देखो, यह तो तीव्र विकार की बड़ी बात की है। इसी प्रकार दूसरे भी पुण्य अथवा पाप के जो विचार आते हैं, वे दूसरे क्षण मिट जाते हैं; इसलिए वे मेरा स्वरूप नहीं हैं। मैं विकार का ज्ञान करनेवाला स्वयं विकाररहित

ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा पहले अनुमान करना चाहिए। वह अनुमान भी यथार्थ है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता – ऐसा स्वभाव का अनुमान किया, वही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

अहो! अनन्त काल में चैतन्य का शरण कौन है? यह जीव ने कभी विचार ही नहीं किया है। बाहर में कोई पदार्थ आत्मा को शरणरूप नहीं है, शरीर भी शरणरूप नहीं है। जिसने चैतन्यतत्त्व की अन्तर शरण चूक कर, बाहर में शरण मानी है, वह मरणकाल में अशरणरूप होकर मरता है। ध्रुव-चैतन्यस्वरूप को जाने बिना किसकी शरण में शान्ति रखेगा? अरे भाई! क्या ऐसा ही स्वरूप होगा? क्या कोई शरणरूप वस्तु नहीं होगी? अन्तर में चैतन्यतत्त्व शरणभूत है, उसका लक्ष्य कर।

जिसे अपूर्व धर्म करना हो, वह जीव, कुदेवादि की मान्यता छोड़कर पहले तो आत्मस्वभाव जैसा है, वैसा ज्ञान में विकल्पसहित निर्णय करता है; तत्पश्चात् अन्तरस्वभाव सन्मुख होकर निर्विकल्प अनुभव प्रगट होने पर विशेष दृढ़-निर्णय होकर सम्यक्प्रतीति प्रगट होती है। इसमें अन्तर में आत्मा के विचार की जो क्रिया है, ज्ञानी को उसका माहात्म्य नहीं आता। पहले नव तत्त्वों के रागमिश्रित विचार बिना, सीधे एक आत्मा के अनुभव में नहीं आया जा सकता तथा एक अभेद आत्मा के अनुभव में यह नव तत्त्व के विकल्प सहायकरूप नहीं हैं। वर्तमान ज्ञान की दशा, अखण्ड चैतन्य के सन्मुख होकर, उसके ज्ञानपूर्वक आत्मस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा होना ही निश्चयसम्यग्दर्शन है – ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के जिज्ञासु को नव तत्त्व का ज्ञान कैसा होना चाहिए? यहाँ उसकी बात करते हैं।



मैं जीव हूँ, शरीर इत्यादि अजीव हैं; दया-दान-व्रत इत्यादि भाव पुण्य हैं। पुण्य है, वह जीव नहीं है और जीव है, वह पुण्य नहीं है। अजीव से जीव भिन्न है। इस प्रकार नव तत्त्व अभूतार्थनय से हैं, उन्हें ज्यों का त्यों जानना चाहिए। देखो, इतना जानना भी अभी कोई धर्म नहीं है। धर्म तो अन्तर में भेद का लक्ष्य छोड़कर, एकरूप परमार्थस्वभाव के अनुभव से होता है परन्तु इससे पूर्व उपरोक्त कथनानुसार नव तत्त्व के विचाररूप शुभभाव की प्रवृत्ति आये बिना नहीं रहती है।

अहो! जीव ने कभी अपनी आत्मा की दरकार नहीं की है। जैसे, बैल और गधे अपना सम्पूर्ण जीवन भार खींच-खींचकर पूरा कर देते हैं; उसी प्रकार बहुत से जीव तो यह मनुष्यभव प्राप्त करके भी व्यापार-धन्धा और रसोई इत्यादि की मजदूरी कर-करके जीवन गँवा देते हैं। कोई भी पर का तो कुछ कर ही नहीं सकता, व्यर्थ ही पर का अभिमान करता है परन्तु आत्मा कौन है? और उसका स्वरूप क्या है? इस बात का कभी अन्तरङ्ग में विचार नहीं करता।

मैं तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप जीवतत्त्व हूँ और शरीरादि अजीवतत्त्व हैं; दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। बाहर में पैसा इत्यादि वस्तुएँ लेने-देने की अथवा रसोई करने की क्रिया जड़ की है, वह मैं नहीं कर सकता हूँ; मैं तो जाननहार तत्त्व हूँ। जीव और अजीव सदा भिन्न हैं। इस प्रकार नव तत्त्व के यथार्थ विचार करना भी अभी व्यवहारसम्यक्त्व है और नव तत्त्व के भेद के विकल्परहित एक चैतन्यस्वरूप आत्मा की श्रद्धा करके अनुभव करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है। राजा श्रेणिक को ऐसा सम्यक्त्व था, उसके फल में

संसार का नाश करके वे आगामी चौबीसी में पहले तीर्थङ्कर होकर, उसी भव से मुक्ति प्राप्त करेंगे। यद्यपि उन्हें व्रतादिक नहीं थे, तथापि यहाँ कहा गया वैसा आत्मा का भान था अर्थात् सम्यग्दर्शन था; इस कारण वे एकावतारी हुए हैं।

तीर्थ अर्थात् तिरने का उपाय। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही तिरने का उपाय है और उसकी प्रवृत्ति में नव तत्त्व की श्रद्धा इत्यादि निमित्तरूप है। वह व्यवहारश्रद्धा कोई मूलस्वरूप नहीं है, वह स्वयं तीर्थ अथवा मोक्षमार्ग नहीं है परन्तु वह व्यवहारश्रद्धा, परमार्थ में जाने पर बीच में आये बिना नहीं रहती।

इस जगत् का कर्ता कोई ईश्वर है अथवा सब मिलकर एक ब्रह्मस्वरूप ही है – इत्यादि कथनरूप कुतत्त्वों की श्रद्धा छूटकर श्री सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को लक्ष्य में लेना, वह व्यवहारश्रद्धा है; उसमें अभी रागपरिणाम है और उस राग से रहित होकर स्वसन्मुखरूप से अभेद आत्मा की प्रतीति करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वही धर्म है।

**प्रश्न** – मरण के काल में ऐसी प्रतीति करे तो?

**उत्तर** – भाई! अभी भी आत्मा के भान बिना तू प्रतिक्षण भावमरण ही कर रहा है; इसलिए उस भावमरण से बचने के लिए आत्मा के स्वभाव की पहचान कर।

श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि –

**तू क्यों भयङ्कर भावमरण प्रवाह में चकचूर है!**

भाई! मैं पर का कर्ता हूँ और विकल्प से मुझे लाभ होता है — ऐसा मानकर, इस विपरीतमान्यता से तेरा आत्मा प्रतिक्षण भयङ्कर भावमरण कर रहा है। यदि तुझे उस भावमरण से बचकर अपनी आत्मा का जीवन प्राप्त करना हो तो चैतन्यस्वरूप आत्मा की प्रतीति कर। इस चैतन्य की प्रतीति के बिना चैतन्य जीवन नहीं जिया जा सकता और भावमरण से नहीं बचा जा सकता।



व्यवहारसम्यक्त्व में तो भेद से नव तत्त्व की श्रद्धा है और अभेद परमार्थ सम्यक्त्व में तो एकरूप अभेद आत्मा की ही प्रसिद्धि है। आत्मख्याति, वह निश्चयसम्यक्त्व का लक्षण है।

हे भाई! तुझे भगवान के समीप आना है या नहीं? तुझे चैतन्य भगवान का साक्षात् दर्शन करना है या नहीं? तो पहले तुझे व्यवहारश्रद्धा एकदम सही करनी पड़ेगी। चैतन्य भगवान के दर्शन करने में पहले द्वारपालरूप व्यवहारश्रद्धा आती है परन्तु यदि उस द्वारपाल के पास ही रुक जाएगा तो तुझे चैतन्य भगवान के दर्शन नहीं होंगे। प्रथम, नव तत्त्व को भलीभाँति जानकर, एक अभेद आत्मा के स्वभावसन्मुख अन्तर झुकाव करके, प्रतीति करने से चैतन्य प्रभु के दर्शन होते हैं; वह सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन द्वारा उस चैतन्य भगवान के दर्शन करते हुए, भव का अन्त आ जाएगा। इस चैतन्य भगवान के दर्शन किये बिना, भव का अन्त नहीं आ सकता है।

जो जीव, नव तत्त्व के ज्ञान में भी गड़बड़ी करता है, वह तो अभी चैतन्य भगवान के आँगन में भी नहीं आया है; उसे चैतन्य भगवान के दर्शन नहीं हो सकते हैं। पहले रागमिश्रित विचार से जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न मानना, वह चैतन्य भगवान का आँगन है और अभेदस्वरूप की रागरहित अनुभवसहित प्रतीति

करना, वह चैतन्य भगवान के साक्षात् दर्शन है, वह निश्चय –सम्यग्दर्शन है।

नव तत्त्व में तीसरा पुण्यतत्त्व है। वह पुण्यतत्त्व भी जीव को शरणभूत नहीं है। जीवतत्त्व, नित्य ध्रुवरूप है और पुण्यतत्त्व क्षणिक विकार है। पुण्य के आधार से जीवतत्त्व नहीं है। जीवतत्त्व और पुण्यतत्त्व भिन्न–भिन्न हैं। त्रिकाली जीवतत्त्व, वह पुण्य का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली तत्त्व, पुण्य का कारण हो तो पुण्य का अभाव कभी नहीं होगा। पुण्यतत्त्व स्वयं जीव नहीं है और जीवतत्त्व, वह पुण्य नहीं है। इस प्रकार दोनों तत्त्वों का भिन्न–भिन्न स्वरूप जानना चाहिए।

चैतन्यदेव का सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पहले द्वार के रूप में अर्थात् निमित्तरूप में व्यवहाररूप में नव तत्त्व की श्रद्धा होती है, तथापि परमार्थ सम्यग्दर्शन तो एक अभेद तत्त्व की श्रद्धा से ही होता है, व्यवहारश्रद्धा तो वारदान के समान है; मूल वस्तु तो अन्दर में अलग है।

पुण्यभाव, वह त्रिकाली आत्मा नहीं है। यदि पुण्यभाव से आत्मा का प्रगट होना माना जाए तो जीव और पुण्यतत्त्व अलग –अलग नहीं रहते और त्रिकाली जीवतत्त्व को पुण्य का कारण मानें तो भी जीव और पुण्यतत्त्व अलग नहीं रहते। दया, दान, पूजा, भक्ति, तीर्थयात्रा, ब्रह्मचर्य इत्यादि शुभपरिणाम हैं, वह पुण्यतत्त्व है। यदि वह पुण्यतत्त्व, आत्मा हो तो आत्मा से उसकी भिन्नता निश्चित नहीं हो सकती और नव तत्त्व भी नहीं रहते है। जीव में जीव है और पुण्य में पुण्य है; जीव में पुण्य नहीं, पुण्य में जीव नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व का अपना



भिन्न–भिन्न लक्षण है। नव तत्त्वों का ऐसा निर्णय करना, वह व्यवहारसम्यक्त्व है।

पुण्यतत्त्व, वह आत्मा नहीं है और पुण्यतत्त्व, वह पाप भी नहीं है। दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि के भाव, वह पुण्यतत्त्व है, वह कोई पाप नहीं है तो उन दया–पूजादि के भाव को पाप मनवानेवाले को तो नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा नहीं है। अन्तरस्वभाव का निर्णय करने के बीच में नव तत्त्व की श्रद्धा का विकल्प आये बिना नहीं रहता है। अज्ञानी लोग ऐसा मानते और मनवाते हैं कि धर्म से धन, धन से धर्म होता है। वस्तुत: उन्हें जीव और अजीव तत्त्व की श्रद्धा नहीं है। धर्म का सम्बन्ध धन के साथ नहीं, किन्तु चैतन्य के साथ है। धन तो अजीवतत्त्व है। क्या उस अजीव से जीव को धर्म होता है? धन से धर्म तो नहीं होता, किन्तु धन से पुण्य भी नहीं होता। धन तो जड़तत्त्व है और पुण्य तो जीव का मन्द कषायभाव है, यह दोनों भिन्न हैं। ऐसा होने पर भी जो जीव, पैसे से धर्म मानता है अथवा पैसे से पुण्य या पाप मानता है, उसे व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

श्री आचार्यदेव तो आत्मा की परमार्थ श्रद्धा करवाना चाहते हैं। अभी नव तत्त्व जैसे हैं, वैसे विकल्प से मानें, परन्तु नव के भेदरहित एक परमार्थ आत्मा को श्रद्धा का विषय नहीं बनावे, वहाँ तक सम्यक्त्व नहीं होता है।

जिनमन्दिर में भगवान के समीप हाथ जुड़ते हैं, शरीर नमता है अथवा भाषा बोली जाती है, वह जड़ की किया है; उस जड़ की क्रिया के कारण पुण्य नहीं है और पुण्य से धर्म नहीं है। शुभभाव से पुण्य है और अन्तर में परमार्थस्वभाव के श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र से धर्म है। अरे! जैन कहलाने और साधु नाम धरानेवालों को भी अभी

नव तत्त्व के भाव का भी पता नहीं होता; अत: वास्तव में उन्हें जैन नहीं कहते।

पुण्य और पाप, वह वर्तमान क्षणिक विकारीदशा है और जीव तो त्रिकाली तत्त्व है। जड़ से पुण्य-पाप नहीं हैं तथा त्रिकाली जीवतत्त्व भी पुण्य-पाप का कारण नहीं है। यदि त्रिकाली जीवतत्त्व में पुण्य-पाप हो तो उनका कभी अभाव नहीं हो सकता। इस प्रकार जीवतत्त्व में पुण्य नहीं है तथा अजीवतत्त्व में भी पुण्य नहीं है; पुण्य स्वतन्त्र है, क्षणिक विकारीदशा है। यह सब शुद्धनय का विषय नहीं, अभूतार्थनय का विषय है - ऐसी नव तत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहारसम्यक्त्व है।

देखो, अभी तो धर्म के आँगन में आने पर व्यवहारश्रद्धा में भी इतना स्वीकार आ जाता है, फिर एक शुद्ध आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करने से सम्यक्प्रतीतिरूप धर्म प्रगट होता है।

चौथा, पाप तत्त्व है। जगत् तो परजीव के मरने से अथवा शरीर की क्रिया से पाप मानता है परन्तु वह वास्तव में पाप नहीं है। पाप तो जीव का कलुषितभाव ही है। अजीव में पापभाव नहीं है; पापभाव तो जीव की क्षणिक विकारी अवस्था है। जीव की अवस्था को छोड़कर कहीं बाहर में तो पाप रहता ही नहीं। पुण्य-पाप इत्यादि तत्त्व, क्षणिक अवस्था में हैं अर्थात् वर्तमान अवस्थादृष्टि से देखने पर यह नव तत्त्व विद्यमान हैं, इन्हें जानना चाहिए।

कोई कुदेवादि को मानता हो और कुव्यवहार में भटकता हो, उससे छूटने के लिए और सच्चे व्यवहार में आने के लिए यह नव तत्त्व की श्रद्धा काम की है किन्तु नव तत्त्व तो भेददृष्टि है; इसलिए



इनके लक्ष्य से परमार्थ सम्यक्त्व नहीं होता है। अभेददृष्टि में तो अकेला भूतार्थ आत्मा ही है, उसकी प्रतीति ही परमार्थ सम्यक्त्व है। जिसे ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए चैतन्य के अन्तर में ढलना हो, उसे पहले ऐसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धारूप आँगन में आना पड़ेगा।

जिसने वास्तव में ऐसा माना है कि पुण्य से पैसा प्राप्त होता है, उसने पुण्य और अजीव को एक माना है तथा पैसे से धर्म होना माननेवाले ने अजीव और धर्म अर्थात् संवरतत्त्व को एक माना है तथा पुण्य से धर्म माननेवाले ने भी पुण्य और संवरतत्त्व को एक माना है - यह सभी विपरीतमान्यताएँ हैं। जिसे नव तत्त्व की ठीक-ठीक श्रद्धा भी नहीं है, उसका तो आँगन भी साफ नहीं है और उसे चैतन्य के घर में प्रवेश नहीं होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता है; इसलिए नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानना चाहिए। यह चैतन्य स्वभाव के दर्शन के लिए आँगन है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 92-99 ]*

आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य - (3)

# 23. निश्चयसम्यग्दर्शन का मार्ग

अरे! मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है? किस कारण से मुझे यह संसार भ्रमण है और किस कारण से यह भ्रमण मिटेगा? — ऐसी यथार्थ विचारदशा भी जीव को जागृत नहीं हुई है। ऐसी विचारदशा जागृत हो, निर्णय करे और फिर आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर प्रतीति करे, तब सम्यग्दर्शन प्रगट होकर भवभ्रमण का अभाव होता है।

जिसे आत्मा का कल्याण करना हो, सुखी होना हो, धर्म करना हो अथवा सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे क्या करना चाहिए? - यह बात यहाँ चल रही है।

पहले तो जीवादि नव तत्त्वों को भिन्न-भिन्न ज्यों के त्यों जानना चाहिए। इन नव तत्त्वों के विचाररूप भाव, अखण्ड चैतन्य वस्तु में जाने में निमित्त होते हैं। जैसे, दरवाजे के द्वारा घर के अन्दर आया जाता है परन्तु दरवाजा साथ में लेकर अन्दर नहीं आया जाता है; इसी प्रकार अन्दर के चैतन्य घर में आने के लिए नव तत्त्व के विचार करना, वह दरवाजा है अर्थात् निमित्त है परन्तु उन नव तत्त्व के विचार के शुभराग से कहीं अभेदस्वभाव में नहीं पहुँचा जा



सकता तथा पहले नव तत्त्व के ज्ञानरूप आँगन में आये बिना भी अभेद में नहीं जाया जा सकता।

अहो! अनन्त काल में ऐसा मनुष्यदेह प्राप्त हुआ, उसमें विचार करना चाहिए कि मेरा कल्याण कैसे हो? अनन्त काल में कल्याण नहीं हुआ और निगोदादि अनन्त भवों में परिभ्रमण किया। अब, इस अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके आत्मा का कल्याण कैसे हो? उसकी यह बात है।

जिस प्रकार राजा से मिलने जाने पर पहले बीच में द्वारपाल आता है; इसी प्रकार इस चैतन्य महाराज की प्रतीति और अनुभव करने जाने पर बीच में नव तत्त्व की श्रद्धारूप द्वारपाल आता है। उन नव तत्त्वों का वर्णन चल रहा है; उसमें जीव, अजीव, पुण्य और पाप - इन चार तत्त्वों का वर्णन आ गया है। सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो? यह उसकी विधि कही जा रही है। यह सम्यग्दर्शन का उपाय है। आत्मा, देह इत्यादि परवस्तुओं से भिन्न चैतन्यवस्तु है, उसे वैसा ही मानना, सम्यक्श्रद्धा का मार्ग है।

जैसे, किसी मनुष्य के पास करोड़ रुपये की पूँजी हो और उसे करोड़ो रुपये की पूँजीवाला माने तो वह मानना सच्चा कहलाता है परन्तु करोड़ रुपये की पूँजीवाले को हजार रुपये की पूँजीवाला मानें तो उस मनुष्य सम्बन्धी मान्यता सच्ची नहीं कहलाती। करोड़ रुपये की पूँजी का ज्ञान करने के बाद, करोड़ रुपये की पूँजी अपने को कैसे हो? यह बात तो मिथ्या है। इसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का स्वामी सिद्ध भगवान जैसा है, उसे वैसे पूर्णस्वरूप में पहले विचार में लेना, वह व्यवहार से जीवतत्त्व की सच्ची मान्यता है,

उसमें अभी विकल्प है। चैतन्यतत्त्व की निर्विकल्प श्रद्धा करने से पूर्व वैसा विकल्प आता है, विकल्प से भी स्वीकार तो पूर्ण का ही है।

आत्मा को सिद्ध समान पूर्ण न मानकर, क्षणिक विकारवाला माने, उसे तो जीवतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं होती। जो विकल्प से भी मन द्वारा भी परिपूर्ण जीवतत्त्व को नहीं जानता, उसे विकल्प तोड़कर उसके अनुभवरूप परमार्थश्रद्धा तो कैसे होगी? नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा, वह भी पुण्य है, धर्म नहीं है तो फिर बाहर की क्रिया में तो धर्म होगा ही कैसे? अरे! अन्दर के अलौकिक स्वानुभव का मार्ग लक्ष्य में तो ले!

जिस प्रकार मक्खी कफ को खाने जाती है तो उसकी चिकनाहट में चिपट जाती है; इसी प्रकार अज्ञानी जीव, अनादि से चैतन्य को भूलकर इन्द्रिय-विषयों की रुचि करके उसमें ही तल्लीन हो जाता है परन्तु किञ्चित् निवृत्ति लेकर, 'अरे! मैं कौन हूँ, यह संसार परिभ्रमण कैसे मिटे?' इस प्रकार जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करता। अभी नव तत्त्व के विचार में भी राग के प्रकार पड़ते हैं क्योंकि नव तत्त्वों का विकल्प एक साथ नहीं होता, अपितु क्रम-क्रम से होता है, इसलिए उसमें रागमिश्रित विचार है। पहले रागमिश्रित विचार से नव तत्त्वों का निर्णय करना, वह व्यवहारश्रद्धा है, वह भी अभी वास्तव में धर्म नहीं है किन्तु धर्म का आँगन है और नव तत्त्वों के विकल्प से रहित होकर एक अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना, वह निश्चयश्रद्धा है, वही प्रथम धर्म है।

जिस प्रकार बहियों का लेखा देखे तो पूँजी का पता पड़ता है; इसी प्रकार सत्समागम से शास्त्र का अभ्यास, श्रवण-मनन करे तो जीव क्या-अजीव क्या? - इसका पता पड़ता है।



कोई कहता है कि 'हमारे जीवित रहते तो घरबार, व्यापार-धन्धा इत्यादि का बहुत काम होता है; इसलिए जीते-जी इन सबसे भिन्न आत्मा की श्रद्धा नहीं हो सकती, परन्तु मरण के काल में कुछ करूँगा।' - वस्तुतः तो ऐसा कहनेवाले को तत्त्व की रुचि ही नहीं है, आत्मा को समझने की दरकार ही नहीं है। अरे भाई! अभी भी शरीर, पैसा इत्यादि समस्त पदार्थों से आत्मा भिन्न ही है, आत्मा पर का कुछ नहीं कर सकता, फिर भी मैं कर्ता हूँ - ऐसा मानता है, वह अज्ञानी है। यदि पर से भिन्न आत्मा की बात अभी नहीं समझता और समझने की रुचि भी नहीं करता तो मरण के काल में किस प्रकार करेगा?

मैं जीव हूँ और शरीरादि पदार्थ मुझसे भिन्न अजीव हैं; आत्मा उन शरीरादिक के कार्य नहीं करता, इतनी-सी बात भी जिसे नहीं जँचती, उसे जीव-अजीवतत्त्व के पृथक्पने का भान भी नहीं है।

**प्रश्न** - आत्मा, व्यवहार से तो पैसा इत्यादि प्राप्त कर सकता है न?

**उत्तर** - ऐसा नहीं है। पैसा जड़ है, उस जड़ के आने-जाने की अवस्था, उसके कारण होती है; आत्मा, व्यवहार से भी उसे प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मा उन्हें प्राप्त कर सकता है - ऐसा मानना तो व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है। 'इसने पैसा प्राप्त किया, इसने ऐसा किया और यह प्राप्त किया' - ऐसा बोला जाता है परन्तु वह कहीं वस्तुस्वरूप नहीं है। नव तत्त्व का विचार करे तो वस्तुस्वरूप ख्याल में आता है और बहुत-सी भ्रमणाएँ मिट जाती हैं।

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, दिव्यध्वनि में फरमाते हैं कि हे जीव! तू धीरजवान हो, जरा शान्त हो; तुझे आत्मा का कल्याण करना हो, धर्म करना हो तो हम कहते हैं, तदनुसार जीव–अजीव को भिन्न समझ। अभेद चैतन्यस्वभाव की निर्विकल्प श्रद्धा करने के लिए प्रथम रागमिश्रित विचार से जीव–अजीव को भिन्न जानना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

जीव और अजीव – ये दो तत्त्व मूलद्रव्य हैं, वे त्रिकाली हैं और शेष सातों तत्त्व, क्षणिक अवस्थारूप हैं। अवस्था में जो क्षणिक पुण्य–पाप होते हैं, वे जीव के त्रिकाली स्वभाव में से नहीं आये हैं तथा जड़ की क्रिया से भी नहीं हुए हैं। जीवद्रव्य में से पुण्य आया – ऐसा मानने से जीव और पुण्य तत्त्व अलग–अलग नहीं रहते और जड़ की क्रिया से पुण्य मानने पर अजीव और पुण्यतत्त्व अलग–अलग नहीं रहते। पुण्य तो क्षणिक अवस्था से होता है और जीवतत्त्व त्रिकाल है; इस प्रकार नव तत्त्वों को जाने बिना व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं होती।

त्रिकाली जीवद्रव्य के लक्ष्य से पुण्य–पाप उत्पन्न नहीं होते हैं और परवस्तु के कारण भी पुण्य–पाप नहीं होते, अपितु जीव की एक समयमात्र की अवस्था में अरूपी शुभाशुभ विकारीपरिणाम होते हैं, वह पुण्य–पाप है।

अब, पाँचवाँ आस्रवतत्त्व है। पहले पुण्य–पापतत्त्व की अलग पहचान करायी थी और फिर आस्रवतत्त्व का वर्णन करते हुए, पुण्य–पाप दोनों को आस्रव में डाल दिया है; इसलिए पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं है, इस प्रकार जो पुण्य–पाप में अन्तर मानता है, उसे आस्रवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। पुण्य और पाप दोनों विकार



हैं, आस्रव हैं। पुण्य–पाप से रहित सिद्धसमान सदा पद मेरा – ऐसा विचारनेवाले ने व्यवहार से नव तत्त्व को स्वीकार किया है।

जिस प्रकार किसी के पास से उधार लिया हो, किन्तु अभी उसका उधार चुका न पाया हो, उससे पहले तो वह उधार पूरा–पूरा चुकाना है – यह स्वीकार करे तो वह व्यवहार में साहूकार हुआ है और जब सारा उधार चुका दे, तब वास्तविक साहूकार हुआ कहा जाता है। इसी प्रकार चैतन्यद्रव्य की अखण्ड निधि सिद्ध समान है, अनन्त गुणों का भण्डार है, उसमें एकाग्र होकर, उसका अनुभव करनेरूप उधार चुकाने से पहले उसकी व्यवहारश्रद्धा करना, वह व्यवहार में साहूकार है अर्थात् व्यवहारश्रद्धा है और फिर अखण्ड चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके, उसका अनुभव करना, वह परमार्थ से साहूकारी है अर्थात् परमार्थश्रद्धा है। ऐसे परिपूर्ण आत्मस्वभाव की श्रद्धा करने में क्रम नहीं होता। पूर्ण की श्रद्धा के पश्चात् चारित्र में क्रम पड़ता है।

जिसने पुण्य और पाप इन दोनों तत्त्वों को विकाररूप से समान नहीं जाना, किन्तु पुण्य ठीक है और पाप ठीक नहीं है – ऐसा भेद माना, उसने आस्रवतत्त्व को नहीं जाना। जैसे, तालाब में नदी का पानी बाहर से आता है; इसी प्रकार आत्मा में आस्रवभाव कहीं बाहर की क्रिया से नहीं आता, परन्तु पर्यायदृष्टि से जीव की अवस्था में आस्रवभाव, उस क्षण नये उत्पन्न हुए हैं। आस्रव, त्रिकाल जीवद्रव्य से नहीं हुआ तथा अजीवद्रव्य से भी नहीं हुआ है।

अहो! जब बहुत से लोगों को नव तत्त्व का भी भले प्रकार से पता नहीं है, तब उन्हें अन्तरस्वभाव की दृष्टि कैसे होगी? वे जीव तो आत्मा के भान बिना जैसे जन्मे थे, वैसे ही कौवे और कुत्ते की

तरह अवतार पूरा करके, मरकर चले जाते हैं। उन्होंने जीवन में हित के लिए कुछ अपूर्व नहीं किया है। बाहर में कुदेवादि की विपरीतमान्यता छोड़कर, यह सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को भलीभाँति जानें तो भी अभी धर्म की व्यवहार रीति में आया है, अभी परमार्थ धर्म की रीति तो इससे भी अलग है।

छठवाँ, संवरतत्त्व है। संवर, आत्मा की निर्मलपर्याय है। शरीर को संकुचित करके बैठ जाना, वह कोई संवर नहीं है। चैतन्य में एकाग्रता से सम्यग्दर्शन होता है, वह पहला संवर है। कोई यह मानता है कि पुण्य, क्षयोपशमभाव है और उससे संवर होता है तो यह मान्यता मिथ्या है। कर्म के उदय में जुड़ने से शुभवृत्ति का उत्थान होता है, वह पुण्य है; वह पुण्य, क्षयोपशमभाव नहीं है, अपितु उदयभाव है। पुण्य है, वह आस्रव है, वृत्ति का उत्थान है; यदि उसे उदयभाव नहीं कहेंगे तो किसे कहेंगे? क्या अकेले पाप को ही उदयभाव कहना है? पुण्य तथा पाप यह दोनों उदयभाव धर्म के कारण नहीं हैं। संवर तो पुण्य-पाप से रहित निर्मलभाव है, वह धर्म है।

चैतन्यस्वरूप आत्मा में एकाग्रता से ही संवर होता है – ऐसा संवरभाव, आत्मा में प्रगट होने से पूर्व उसकी प्रतीति करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। जिसे ऐसा संवरभाव प्रगट हुआ हो, वही सच्चे गुरु होते हैं; जिन्हें ऐसा संवरभाव प्रगट नहीं हुआ हो, वह सच्चा गुरु नहीं कहलाता है। इसलिए संवरतत्त्व की पहचान में सच्चे गुरु की प्रतीति भी साथ ही आ जाती है। जिनमें संवरपना प्रगट नहीं हुआ हो – ऐसे अज्ञानियों का गुरुरूप से आदर करनेवाले जीव को संवरतत्त्व की श्रद्धा नहीं है और गुरु की पहचान भी नहीं है।



अहो! एक समय का संवर, वह मुक्ति प्रदाता है। ऐसे संवर के बदले जो जड़ की क्रिया में और पुण्य में संवर मनवाते हैं, वे सब कुदेव-कुगुरु हैं। वे कुगुरु, सच्चे धर्म के लूटनेवाले ठग हैं, उन्हें जो गुरुरूप में मानता है, वह जीव, धर्म के लूटेरों का पोषण करता है; अत: उसे धर्म नहीं हो सकता। जो पर से अथवा पुण्य से संवर होना नहीं मनवाते, अपितु आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र से संवर मनवाते हैं और ऐसा संवर जिनकी आत्मा में प्रगट हुआ है – ऐसे गुरु को ही गुरुरूप से मानें, तब तो गुरु की अथवा संवरतत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। अभी यह सब तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाता है।

अहो! जो सम्यक्त्व के पिपासु होते हैं, वे अन्तर में विचार करके इस जाति का ख्याल तो ज्ञान में करो! यह आत्मा की अन्दर की क्रिया है, इसके अतिरिक्त बाहर की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। पहले अन्तर में परमार्थस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी श्रद्धा करना, वह पहला संवर है और फिर चारित्रदशा प्रगट होने पर विशेष संवर होता है।

आत्मा पर का कुछ कर सकता है, पुण्य से संवर/धर्म होता है – ऐसा माननेवाले की तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है। जो ऐसे जीवों को गुरुरूप से मानकर आदर करता है, उस जीव को आत्मा के हित की कुछ भी दरकार नहीं है। मिथ्यात्व का सेवन तो सबसे बड़ा पाप है; शुद्ध चैतन्य की श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना, वह संवर है। जिन्होंने स्वयं ऐसा संवर प्रगट किया हो और ऐसा ही संवर का स्वरूप बतलाते हों, वे ही सच्चे गुरु हैं। संवरभाव प्रगट होने से पूर्व संवर का ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार समझने से ही

नव तत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाती है। इसके अतिरिक्त जो पुण्य से धर्म मनवानेवाले कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को मानता है, उसे नव तत्त्व की श्रद्धा भी नहीं है; इसलिए उसे तो व्यवहार धर्म भी प्रगट नहीं हुआ है, उसे आत्मा का परमार्थ धर्म होता ही नहीं।

अहो! यह नव तत्त्व की बात समझना अत्यन्त आवश्यक है। अन्तर में नव तत्त्व का ख्याल करे तो आत्मा में प्रकाश हो जाता है और मार्ग स्पष्ट हो जाता है। पूर्व के विपरीत प्रकारों के साथ इस बात का मेल नहीं खा सकता; अत: पूर्व की पकड़ छोड़कर, पूर्वाग्रह त्यागकर, मध्यस्थ होकर पात्रतापूर्वक विचार करे तो अन्तर में यह बात बैठ जाती है। यह बात समझे बिना आत्मा का कल्याण अथवा धर्म नहीं हो सकता है।

सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित नव तत्त्वों को रागमिश्रित विचार से मानने की भी जिसमें योग्यता नहीं है और कुगुरुओं के द्वारा कथित तत्त्वों को मानता है, उसे अभेद आत्मा के सन्मुख होकर परमार्थ श्रद्धा नहीं हो सकती। नव तत्त्व का विचार करने पर भेद पड़ते हैं और राग होता है; इसलिए वह व्यवहार श्रद्धा है। नव तत्त्वों के विचार एक समय में नहीं आते हैं क्योंकि वे तो अनेक हैं, उनमें एक तत्त्व के विकल्प के समय दूसरे तत्त्वों का विकल्प नहीं है; इसलिए नव तत्त्व के लक्ष्य से भेद और क्रम पड़ता है परन्तु निर्विकल्पदशा नहीं होती।

भूतार्थ आत्मा में एकपना है, वह एक समय में अखण्डरूप से प्रतीति में आता है और उसके लक्ष्य से ही निर्विकल्पदशा होती है परन्तु ऐसी निर्विकल्पदशा के लिए आत्मसन्मुख होने से पूर्व नव



तत्त्व के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। जो नव तत्त्व के क्रम -विचार में भी जो नहीं आया है, उसे उस क्रमरूप विचारों को छोड़कर अक्रम आत्मस्वभाव की एकता की अनुभूति नहीं होती है।

प्रथम, नव तत्त्व की श्रद्धा करके, उन नव के भेदों का विचार छोड़कर अभेद चेतनद्रव्य की प्रतीति करने से सम्यग्दर्शनरूपी संवर धर्म प्रगट होता है। संवरतत्त्व की श्रद्धा में सच्चे गुरु कैसे होते हैं? – उनकी श्रद्धा भी आ जाती है। संवरतत्त्व को धारण करनेवाले ही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्य को संवरतत्त्व मानते हैं अथवा देह की क्रिया को संवरतत्त्व मानते हैं, वे सच्चे गुरु नहीं हैं। इस प्रकार संवर इत्यादि तत्त्व को और सच्चे गुरु को पहचाने तब तो व्यवहारश्रद्धा होती है, वह पुण्यभाव है और उससे विरुद्ध कुदेव-कुगुरु को माने अथवा पुण्य को संवर माने तो उसमें मिथ्यात्व के पोषण का पापभाव है, उसे धर्म नहीं होता।

देखो, रोटी छोड़ दी, इसलिए मुझे उपवास अथवा संवर हुआ है – ऐसा माननेवाले को संवरतत्त्व के स्वरूप का पता नहीं है और जिसकी एक तत्त्व में भूल होती है, उसकी नव तत्त्वों में भूल होती है। सिद्धपरमात्मा के समान अपने आत्मस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रागरहित स्थिरता, वह संवर-धर्म है – ऐसे संवर इत्यादि नव तत्त्व की विकल्परहित श्रद्धा, वह व्यवहारश्रद्धा है और नव तत्त्व के विकल्परहित होकर एक भूतार्थ स्वभावरूप आत्मा की प्रतीति और अनुभव करना, वह वास्तव में सम्यग्दर्शन है। वही प्रथम धर्म है। निश्चयसम्यग्दर्शन का यही मार्ग है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 99-107 ]*

आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य – ( 4 )

# 24. सम्यग्दर्शन का व्यवहार

जिसे आत्मा की शान्ति और हितरूप कर्तव्य करना हो, उसे क्या करना ? – यह बात चल रही है। प्रथम तो जीव-अजीव इत्यादि नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानना चाहिए। नव तत्त्वों को माने बिना, नव के विकल्प का अभाव होकर एकरूप वस्तुस्वभाव की दृष्टि नहीं होती और वस्तुस्वभाव की दृष्टि हुए बिना शान्ति अथवा हित नहीं होता।

नव तत्त्व हैं, वे पर्यायदृष्टि से हैं। नव तत्त्वों में अनेकता है, उस अनेकता के आश्रय से एक स्वभाव की प्रतीति नहीं होती तथा पर्यायदृष्टि में अनेकता है; इस बात को जाने बिना भी एकरूप स्वभाव की वस्तुदृष्टि नहीं होती। नव तत्त्व के विकल्प से एक अभेद आत्मस्वभाव का श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता, परन्तु एक अभेद आत्मस्वभाव के सन्मुख ढलकर उसका श्रद्धा-ज्ञान करने से उसमें नव तत्त्वों का रागरहित सम्यग्ज्ञान आ जाता है। सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च को भले ही नव तत्त्व की भाषा नहीं आती हो, परन्तु उसके ज्ञान में से नव तत्त्व सम्बन्धी विपरीतता दूर हो गयी है।

पहले, राग की मन्दता होकर ज्ञान के क्षयोपशम में नव तत्त्व



जैसे हैं, वैसा जानना चाहिए। उन्हें जाने बिना भेद का निषेध करके अभेद का अनुभव प्रगट नहीं हो सकता है।

नव तत्त्वों में जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व, वे त्रिकाल हैं, वे मूलद्रव्य हैं और शेष सात तत्त्व, क्षणिक अवस्थारूप हैं। पुण्य और पाप, उस क्षणिक अवस्था में होते हैं, वे विकारी अंश हैं। जीव में होनेवाले पुण्य-पाप, अस्त्रव तथा बन्ध – ये चारों तत्त्व, जीव की अवस्था का स्वतन्त्र विकार हैं। वह, त्रिकाली जीव के आश्रय से नहीं है तथा अजीव के कारण भी नहीं है। यदि त्रिकाली जीव के आश्रय से विकार होता हो, तब तो जीवतत्त्व और पुण्यादि तत्त्व भिन्न नहीं रहते और यदि अजीव के कारण विकार होता हो तो अजीवतत्त्व और पुण्यादिक तत्त्व भिन्न नहीं रहते; इस प्रकार नव तत्त्व भिन्न-भिन्न निश्चित नहीं होते; इसलिए नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों भिन्न-भिन्न पहचानना चाहिए।

भगवान आत्मा, अनन्त चेतनशक्ति का पिण्ड ध्रुव है; शरीर आदि अजीव से भिन्न है – ऐसे रागसहित विचार से निर्णय करने को जीवतत्त्व का व्यवहार निर्णय कहा जाता है। इस जगत् में अकेला जीवतत्त्व ही नहीं, परन्तु जीव के अतिरिक्त दूसरे अजीवतत्त्व भी हैं। जीव में उस अजीव का अभाव है परन्तु अजीवरूप से तो वे अजीवतत्त्व भूतार्थ हैं तथा चैतन्यतत्त्व का लक्ष्य छूटकर अजीव के लक्ष्य से क्षणिक अवस्था में पुण्य-पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व होता है। जो यह मानता है कि अजीवकर्म के कारण जीव को विकार होता है तो वस्तुतः उसने अजीव और आस्रवादि तत्त्वों को एक माना है; इसलिए उसने नव तत्त्वों को स्वतन्त्र नहीं जाना है; अतः उसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं हुई है।

नव तत्त्वों में पुण्य, पाप और आस्रव – ये तीन कारण हैं और बन्ध, उनका कार्य है। कुदेव और कुगुरु – ये बन्धतत्त्व के नायक हैं। जो पुण्य से धर्म मनवाता है अथवा आत्मा, जड़ का कुछ कर सकता है – ऐसा मनवाता है, वह कुगुरु हैं। ऐसे कुगुरुओं को पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व के रूप में स्वीकार करके, उनका आदर छोड़नेवाले ने ही बन्धतत्त्व को माना कहा जाता है। कुगुरु, उन पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व के कर्ता हैं; इसलिए उन्हें उन पुण्य, पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व में जानना चाहिए। जो जीव, विकार में धर्म मनवानेवाले कुगुरुओं को सत्य मानता है, उनका आदर करता है, उसने आस्रव आदि तत्त्वों को संवर–निर्जरारूप मान लिया है। वस्तुतः उसने नव तत्त्वों को नहीं जाना है।

सम्यग्दर्शन तो एक चैतन्यतत्त्व के अवलम्बन से ही होता है। शुद्ध चैतन्यद्रव्य की प्रतीति करके उसके आश्रय से, एकाग्रता से ही संवर–निर्जरा होते हैं। पुण्य, उदयभाव है, उस उदयभाव से संवर–निर्जरा नहीं होने पर भी जो पुण्य को क्षयोपशमभाव मानता है और उसे संवर–निर्जरा का कारण मानता है तो इस मान्यता में विपरीतश्रद्धा है और विपरीतश्रद्धा अनन्त संसार का कारण है।

**प्रश्न** – थोड़ी–सी भूल की इतनी बड़ी सजा?

**उत्तर** – चैतन्यस्वभाव को विकार से लाभ मानना – यह छोटी–सी भूल नहीं है, अपितु महाभयङ्कर अपराध है। उसमें भगवान और देव–गुरु का महा अनादर है। मिथ्यामान्यता द्वारा अनन्त गुण के पिण्ड चैतन्य की हत्या करके विकार से लाभ मानता है, वह महा–अपराधी है; मिथ्यात्व ही महापाप है। जिस प्रकार प्रतीदिन करोड़ों रुपये की आमदनीवाले बड़े राजा का इकलौता



पुत्र हो और प्रातःकाल राजगद्दी पर बैठने की तैयारी हुई हो, उस क्षण कोई उसका सिर काट दे तो वह कितना बड़ा अपराध है? इसी प्रकार चैतन्य राजा अनन्त गुण की सम्पदा का स्वामी है, उसमें से निर्मलदशा प्रगट हो – ऐसा उसका स्वभाव है। उस चैतन्य राजा की निर्मलानन्द प्रजा/पर्याय प्रगट होने के काल में, उसे विकार से लाभ मानकर निर्मल प्रजा को अर्थात् निर्मल परिणति को विपरीत मान्यता से हत्या कर दे, वह चैतन्य का महा–अपराधी है। उस चैतन्यतत्त्व के विरोध के फल में महादुःखरूप नरक–निगोददशा प्राप्त होती है। ऐसे दुःख से छूटने का उपाय कैसे करना? यह विधि यहाँ सन्त करुणापूर्वक समझाते हैं।

नव तत्त्व में सातवाँ, निर्जरातत्त्व है। अन्तर में आत्मतत्त्व के अवलम्बन से निर्मलता की वृद्धि हो, अशुद्धता का अभाव हो और कर्म का खिरना हो – उसका नाम निर्जरा है। इसके अतिरिक्त देह की क्रिया में अथवा पुण्य में वास्तव में निर्जरा नहीं है। संवर–निर्जरा, वह धर्म है, मोक्ष का कारण है; वह आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है। इस प्रकार निर्जरातत्त्व को नहीं जानकर, पुण्य से निर्जरा होना माने अथवा जड़ की क्रिया से या रोटी नहीं खाने से निर्जरा होना माने तो उसे व्यवहार से भी नव तत्त्व का पता नहीं है; उसे सत्य विचार का उदय भी नहीं है।

निर्जरा तो शुद्धता है और पुण्य अशुद्धता है। अशुद्धता से शुद्धता नहीं होती, फिर भी जो अशुद्धता से शुद्धता होना अर्थात् पुण्य से निर्जरा होना मानता है, उसने निर्जरा इत्यादि तत्त्वों को नहीं जाना है। नव तत्त्व के विकल्परहित चैतन्यद्रव्य के भानसहित एकाग्रता बढ़ने पर शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता मिटती है तथा कर्म खिरते हैं,

वह निर्जरा है। जिसे ऐसा निर्जरातत्त्व प्रगट हुआ हो, उन्हें गुरु कहते हैं। संवर-निर्जरा - यह दोनों आत्मा की निर्मलपर्यायें हैं, धर्म है।

संवर-निर्जरा, वह मोक्ष का साधन है। ऐसे संवर-निर्जरा के फल में जिन्हें पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हुई है, वे देव हैं और वह संवर-निर्जरारूप साधकदशा जिन्हें वर्तती है, वे गुरु हैं तथा वह संवर-निर्जरारूप निर्मलभाव, स्वयं धर्म है। इस प्रकार नव तत्त्व की और देव-गुरु-धर्म की पहचान करना, वह व्यवहारश्रद्धा है।

'तप से निर्जरा होती है' - ऐसा शास्त्र में आता है, वहाँ लोग आहार छोड़ना, वह तप है और उससे निर्जरा हुई, बाह्य दृष्टि से ऐसा मान लेते हैं। वस्तुतः उन्हें तो तप क्या है और निर्जरा क्या है ? इसका भी भान नहीं है। तप से निर्जरा होती है, यह बात सत्य है परन्तु उस तप का स्वरूप क्या है ? बाह्यक्रिया से निर्जरा नहीं होती, परन्तु अन्तर में चैतन्यस्वरूप का भान करके, उसमें एकाग्र होने से सहज ही इच्छा का निरोध हो जाता है, वह तप है और उस तप से निर्जरा होती है।

सम्यक्‌रूप से चैतन्य का प्रतपन होना, वह तप है। जिसे चैतन्य का भान नहीं है, उसे वास्तविक तप नहीं होता। जो पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से संवर-निर्जरा मानता है, उसे तो, नौवें ग्रैवेयक जानेवाले मिथ्यादृष्टि जीव को जैसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा अनन्त बार होती है, वैसी व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है। जो पुण्य को क्षयोपशमभाव मानता है और उसे धर्म का कारण मानता है, उसने पुण्यतत्त्व और धर्मतत्त्व को नहीं जाना है और उसे धर्म भी नहीं होता है।



आत्मा में शुद्धि की वृद्धि हुए बिना अपने-आप स्थिति पूर्ण होकर, फल देकर कर्मों का खिर जाना सविपाक निर्जरा है। वह निर्जरा तो सभी जीवों को प्रतिक्षण होती है, वह कहीं धर्म का कारण नहीं है तथा आत्मा के भान बिना ब्रह्मचर्य, दया इत्यादि के शुभभाव से किञ्चित् अकामनिर्जरा होती है, वह भी धर्म में नहीं गिनी जाती है; अपितु नव तत्त्व का भान करके एक स्वभाव के आश्रय से आत्मा में शुद्धता की वृद्धि, अशुद्धता की हानि और कर्मों का खिरना, वह सकामनिर्जरा है, जो कि मोक्ष का कारण है।

आठवाँ, बन्धतत्त्व है। विकारमात्र में जीव का बँध जाना अर्थात् अटक जाना, वह बन्धतत्त्व है। जीव को किसी पर के कारण बन्धन नहीं होता, परन्तु अपनी पर्याय, विकारभाव में रुक गयी है, वही बन्धन है। पुण्य-पाप के भावों से आत्मा मुक्त नहीं होता, अपितु बँधता है; इसलिए वे पुण्य-पाप, बन्धतत्त्व का कारण हैं; इसके बदले पुण्य को धर्म का साधन अथवा उसे अच्छा माननेवाला, बन्ध इत्यादि तत्त्वों का स्वरूप नहीं समझा है। दया, पूजादि शुभभाव अथवा हिंसा, चोरी आदि अशुभभाव - ये सब विकार हैं; इनके द्वारा आत्मा छूटता नहीं है, अपितु बँधता है।

पुण्य और पाप - ये दोनों भाव मलिनभाव हैं, बन्धनभाव हैं। अभी पुण्य करेंगे तो भविष्य में अनुकूल सामग्री प्राप्त होगी और अच्छी सामग्री होगी तो धर्म होगा - ऐसा जिसने माना है, उसने वास्तव में पुण्य को बन्धतत्त्व में नहीं जाना है। वस्तुतः तो पुण्यभाव अलग वस्तु है और अजीव सामग्री अलग स्वतन्त्र वस्तु है। पुण्य और बाह्य सामग्री को मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जो इस

निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध से इन्कार करता है, उसे भी पुण्यतत्त्व की व्यवहारश्रद्धा नहीं है।

जीव को बाह्य अनुकूल सामग्री से धर्म करना अच्छा लगता है किन्तु वस्तुतः इस मान्यता में भी जीव और अजीव की एकत्वबुद्धि है। पहले भिन्न–भिन्न नव तत्त्वों को जाने बिना अभेद आत्मा की प्रतीति नहीं होती और उस प्रतीति के बिना धर्म नहीं हो सकता है।

त्रिकाली जीवतत्त्व के कारण बन्ध नहीं होता तथा अजीवतत्त्व के कारण भी जीव को बन्ध नहीं होता। बन्धतत्त्व उस त्रिकाली जीवतत्त्व से भिन्न है तथा अजीव से भी भिन्न है। भावबन्ध तो पर के लक्ष्य से होनेवाली क्षणिक विकारीवृत्ति है, वह बन्धतत्त्व त्रिकाली नहीं है, अपितु क्षणिक है। आत्मस्वभाव को चूककर जो मिथ्यात्वभाव होता है उसे, तथा आत्मभान के पश्चात् भी जो रागादिभाव होते हैं, उन्हें बन्धतत्त्व जाने और कुतत्त्वों के कहनेवाले कुदेव–कुगुरुओं को भी बन्धतत्त्व में जाने, तब बन्धतत्त्व को जाना कहा जाता है। श्री अरिहन्त भगवान के द्वारा कथित इन नव तत्त्वों को जो नहीं जानता और कुतत्त्वों को मानता है, उसने वास्तव में अरिहन्त भगवान को नहीं पहचाना है और वह अरिहन्त भगवान का भक्त नहीं है।

हे भाई! यदि तू यह कहता हो कि मैं अरिहन्त का भक्त हूँ, मैं अरिहन्त प्रभु का दास हूँ, तो श्री अरिहन्तदेव द्वारा कथित नव तत्त्वों को तो भलीभाँति जान और उनसे विरुद्ध कहनेवाले कुदेव–कुगुरु का सेवन छोड़! भगवान ने जिस प्रकार कहा, तद्नुसार नव तत्त्वों को व्यवहार से भी तू नहीं जाने तो तूने अरिहन्त भगवान को नहीं



माना है और तू अरिहन्त भगवान का भक्त, व्यवहार से भी नहीं है। व्यवहार से भी अरिहन्त प्रभु का भक्त वह कहलाता है कि जो उनके द्वारा कथित नव तत्त्वों को जाने और उससे विरुद्ध कहनेवाले अन्य को माने ही नहीं।

देखो, नव तत्त्व को जानने में भी अनेकता का अर्थात् भेद का लक्ष्य है। उस भेद के लक्ष्य में रुके, तब तक व्यवहारश्रद्धा है परन्तु परमार्थश्रद्धा नहीं है। जब उस अनेकता के भेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेद स्वभाव की एकता के आश्रय से अनुभव करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है और तभी जीव अरिहन्तदेव का वास्तविक भक्त अर्थात् जिनेन्द्र का लघुनन्दन कहलाता है।

जीव स्वयं बन्धनभाव में अटकता है तो उसमें अजीव का निमित्तपना है। यदि अकेले चैतन्य में जीव के निमित्त बिना भी बन्धन होता हो, तब तो वह बन्धन, जीव का स्वभाव ही हो जाएगा। अकेले चैतन्य में स्वभाव से बन्धन नहीं होता, परन्तु चैतन्य की उपेक्षा करके अजीव के लक्ष्य में अटकने पर बन्धनभाव होता है। अवस्था में क्षणिक बन्धतत्त्व है। इस प्रकार उसे जानना चाहिए।

अरे! बहुत से जीव तो बाहर की धमाल में ही समय गँवा देते हैं परन्तु अन्तर में तत्त्व समझने की दरकार नहीं करते और समझने के लिए निवृत्ति लेकर सत्समागम भी नहीं करते। इन्हें मनुष्यभव प्राप्त करने का क्या लाभ है ? अरे भगवान! अनन्त काल में सत् सुनने का और समझने का अवसर आया है; इसलिए आत्मा की दरकार करके समझ रे समझ! 'अभी नहीं, किन्तु बाद में करूँगा' – ऐसा वायदा करने में रूकेगा तो सत् समझने का अवकाश चला

जाएगा और फिर अनन्त काल में भी ऐसा अवसर प्राप्त होना कठिन है। सन्तों का ऐसा योग प्राप्त होने पर भी यदि उनके सत्समागम में सत् की प्राप्ति का मार्ग नहीं प्राप्त किया तो तुझे क्या लाभ?

अरे! लक्ष्मी तिलक करने आवे, तब मुँह धोने नहीं जाया जाता। इसी प्रकार यह सत् समझने का और चैतन्यलक्ष्मी प्राप्त करने का अवसर आया है; अपूर्व कल्याण प्राप्त करने का अवसर आया है। इस अवसर में 'बाद में करूँगा, बाद में करूँगा' - ऐसा नहीं होता। यदि इस काल में दरकार करके सत् को नहीं समझेगा तो पुनः ऐसा अवसर कब प्राप्त होगा? इसलिए प्रथम, आत्मा का पिपासु होकर तत्त्वनिर्णय का उद्यम कर!

नव तत्त्वों में से जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा और बन्ध - इन आठ तत्त्वों का वर्णन हो गया है।

अब नौवाँ, मोक्षतत्त्व है। अनन्त ज्ञान और आनन्दमय आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होना मोक्षतत्त्व है। जो ऐसे मोक्षतत्त्व को पहचानता है, वह सर्वज्ञदेव को पहचानता है; इसलिए वह कुदेवादि को नहीं मानता। जो कुदेवादि को मानता है, उसने मोक्षतत्त्व को नहीं जाना है। मोक्ष तो आत्मा की पूर्ण निर्मल रागरहित दशा है। उस मोक्षतत्त्व को जानने पर अरिहन्त और सिद्ध भगवान की भी प्रतीति होती है।

अभी तो अरिहन्त भगवान, अजीव वाणी के रजकणों का ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीव की योग्यतानुसार उन रजकणों को छोड़ते हैं - इस प्रकार जो केवली भगवान को अजीव का ग्रहण-त्याग मानता है, उसने अरिहन्त को नहीं पहचाना है। जिसने अरिहन्त का स्वरूप नहीं जाना है, उसने मोक्षतत्त्व को भी नहीं जाना है; मोक्ष के उपाय को भी नहीं जाना है। वस्तुतः उसने



नव तत्त्वों को ही नहीं जाना है और नव तत्त्वों को जाने बिना धर्म नहीं होता है।

प्रत्येक आत्मा का स्वभाव शक्तिरूप से अनन्त केवलज्ञान -दर्शन-सुख और वीर्य से परिपूर्ण है। उसका भान करके उसमें एकाग्रतापूर्वक जिन्होंने अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय प्रगट किया है, वे देव हैं और उन्हें ही मोक्षतत्त्व प्रगट हुआ है। ऐसी मुक्तदशा प्रगट होने के पश्चात् जीव का पुनः कभी अवतार नहीं होता।

अज्ञानी जीव, आत्मा के रागरहित स्वभाव को नहीं जानते और मन्दकषायरूप शुभराग को ही धर्म मान लेते हैं। उस शुभराग के फल में स्वर्ग का भव हो, वहाँ रहने की बहुत लम्बी स्थिति होने से अज्ञानी उसे ही मोक्ष मान लेते हैं तथा उस स्वर्ग में से पुनः दूसरा अवतार होता है; इस कारण अज्ञानी जीव, मोक्ष होने पर भी अवतार होना मान लेते हैं। जीव की मुक्ति होने के पश्चात् पुनः अवतार होना माननेवाले मोक्षतत्त्व को नहीं जानते हैं किन्तु बन्धतत्त्व को ही मोक्षरूप मान लेते हैं। अवतार का कारण तो बन्धन है, उस बन्धन का एक बार सर्वथा नाश हो जाने पर फिर से अवतार नहीं होता है।

आत्मा की पूर्ण चिदानन्ददशा हो गयी, इसका नाम मोक्षदशा है। वह मोक्षदशा होने पर फिर से अवतार अर्थात् संसार परिभ्रमण नहीं होता। वह मुक्त हुए परमात्मा किसी को जगत् का कार्य करने के लिए नहीं भेजते तथा जगत् के जीवों को दुःखी देखकर अथवा भक्तों का उद्धार करने के लिए स्वयं भी संसार में अवतार धारण नहीं करते, क्योंकि उन्हें रागादि भावों का अभाव है।

जगत् के जीवों को दुःखी देखकर भगवान अवतार धारण करते हैं – ऐसा माननेवाला भगवान अर्थात् मुक्तात्मा को रागी और पर का कर्ता मानता है; उसने मुक्तात्मा को नहीं पहचाना है। पुनर्भवरहित मोक्षतत्त्व को प्राप्त श्री सिद्ध और अरिहन्त परमात्मा, वे देव हैं; जो उन्हें नहीं पहचानता, उसे तो सच्चा पुण्य भी नहीं है।

अक्षय अविनाशी चैतन्यस्वभाव की पूर्णानन्ददशा, वह मोक्षतत्त्व है। उस दशा को प्राप्त करने के पश्चात् जीव को किसी की सेवा करना शेष नहीं रहता। पूर्ण ज्ञान–आनन्द दशा को प्राप्त अरिहन्त परमात्मा, शरीरसहित होने पर भी वीतराग हैं। उन्हें पूर्ण ज्ञान–आनन्द होता है; उन्हें शरीर में रोग नहीं होता, दवा नहीं होती, क्षुधा नहीं लगती; आहार नहीं होता, तथा वे किसी को वन्दन नहीं करते और उनका शरीर स्फटिक के समान स्वच्छ परमौदारिक हो जाता है; वे आकाश में पाँच हजार धनुष ऊपर विचरण करते हैं। जो ऐसे अरहन्त परमात्मा को नहीं मानता, उसने तो मोक्षतत्त्व को व्यवहार से भी नहीं जाना है।

श्री केवली भगवान को अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द प्रगट हुआ है, वहाँ चार घातिकर्म तो क्षय हुए हैं और चार अघातिकर्म शेष रहे हैं परन्तु वे जली हुई रस्सी के समान हैं। जिस प्रकार जली हुई रस्सी बाँधने के काम नहीं आती; उसी प्रकार अवशेष चार घातिकर्म हैं, उससे कहीं अरिहन्त भगवान को क्षुधा अथवा रागादि नहीं होते – ऐसे अरिहन्त भगवान जीवन्मुक्त हैं और फिर वे परमात्मा, शरीररहित हो जाते हैं, वे सिद्ध हैं। जिन्हें उनकी पहचान होती है, उसे व्यवहार से नव तत्त्व की श्रद्धा हुई कही जाती है। नव तत्त्व में



मोक्षतत्त्व की श्रद्धा करने से, उसमें अरिहन्त और सिद्ध की श्रद्धा भी आ जाती है।

इस प्रकार जीव–अजीव, पुण्य–पाप, आस्रव–संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – ऐसे नव तत्त्व अभूतार्थनय से अर्थात् व्यवहारनय से विद्यमान हैं। तात्पर्य यह है कि पर्यायदृष्टि से देखने पर वे नव तत्त्व विद्यमान हैं। उन नव तत्त्वों को जाने बिना चैतन्यतत्त्व की प्रतीति की सीढ़ियों पर नहीं जाया जा सकता। यदि नव तत्त्व के विकल्प में ही रुक जाए तो भी अभेद चैतन्य का अनुभव नहीं होता। अभेद चैतन्यस्वभाव के अनुभव के समय नव तत्त्व के विकल्प नहीं होते; इसलिए त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं, अविद्यमान हैं। त्रिकाली तत्त्व में नव तत्त्व के विकल्प रहा ही करें – ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। भूतार्थस्वभाव की दृष्टि से तो एक चैतन्यमूर्ति आत्मा ही प्रकाशमान है – ऐसे चैतन्य में एकता प्रगट हो, वह सम्यग्दर्शन है।

देखो! प्रथम, अभेद के लक्ष्य की ओर ढलने पर नव तत्त्व के विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु जब तक उन नव तत्त्व के विकल्प की ओर ही झुकाव रहा करे, तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व के भेद का अवलम्बन छोड़कर, अभेद चैतन्य की तरफ ढलकर स्वानुभूतिपूर्वक प्रतीति प्रगट करना, वह नियम से सम्यग्दर्शन है।

नव तत्त्व भिन्न–भिन्न हैं, उनमें अनेकता है। उस अनेकता का लक्ष्य, राग का कारण है; इसीलिए इसे नियम से सम्यग्दर्शन नहीं कहा है। उन नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करनेवाला शुद्धनय है। उस शुद्धनय से एकरूप आत्मा का अनुभव करना ही नियम से

सम्यग्दर्शन है। 'भूतार्थनय से नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करना' — इसका अर्थ यह है कि नव तत्त्वों के भेद का लक्ष्य छोड़कर भूतार्थनय से एकरूप आत्मा को लक्ष्य में लेना। भूतार्थनय में नव तत्त्व दिखाई नहीं देते, अपितु एकरूप ज्ञायक आत्मा ही दिखाई देता है। नव तत्त्वों के सन्मुख देखकर एकरूप ज्ञायकस्वभाव में एकपना नहीं होता; नव तत्त्वों के समक्ष देखने से तो राग की उत्पत्ति होती है। नव तत्त्वों के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद चैतन्य को शुद्धनय से जानने पर, नव तत्त्वों में एकपना प्रगट किया कहा जाता है।

भेदरूप नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों जाना, वहाँ तक तो आँगन आया है। उस आँगन में आने के पश्चात् अब वहाँ से आगे बढ़कर चैतन्यघर में जाने की और शुद्धस्वभाव की प्रतीति तथा अनुभव करने की यह बात है। तात्पर्य यह है कि अनादि का मिथ्यात्व मिटकर अपूर्व सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रगट हो? उसकी यह बात है। यहीं से धर्म की प्रथम शुरुआत होती है। नव तत्त्व तो अभूतार्थनय से ही विद्यमान हैं। भूतार्थनय से अभेदस्वभाव में एकपना प्रगट करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। मैं ज्ञायक चैतन्य हूँ – ऐसे अन्तर में विद्यमान स्वभाव के आश्रय की दृष्टि से एक आत्मा का अनुभव होता है। शुद्धनय से ऐसा अनुभव होने पर अनादि का मिथ्यात्व मिटकर, अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और धर्म की शुरुआत होती है।

**प्रश्न** – नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहा, किन्तु उसमें तो जीव तत्त्व भी आ गया; इसलिए जीवतत्त्व को भी अभूतार्थ कहा – यह किस प्रकार?

**उत्तर** – शुद्ध जीवतत्त्व है, वह तो भूतार्थ है परन्तु 'मैं जीव हूँ' – ऐसा जीव सम्बन्धी विकल्प उत्पन्न हो, वह अभूतार्थ है। उस विकल्प के द्वारा जीव को स्वभाव का अनुभव नहीं हो सकता; इसलिए मैं जीव हूँ – ऐसे जीव रागमिश्रित विकल्प को अथवा जीव के व्यवहार भेदों का जीवतत्त्व के रूप में वर्णन करके उन्हें यहाँ अभूतार्थ कहा है – ऐसा समझना चाहिए।



नव तत्त्वों में अनेकता है, उनके विचार में अनेक समय लगते हैं; एक समय में एक साथ नव तत्त्व के विचार नहीं होते। उन नव तत्त्वों के लक्ष्य से राग की उत्पत्ति होती है और अन्तर में चैतन्य की एकता का अनुभव एक समय में होता है। प्रथम, अभेद चैतन्यस्वभाव में अन्तर्मुख होकर श्रद्धा से चैतन्य में एकपना प्रगट करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय है, वह तो नव तत्त्व के भेद से आत्मा का अनेकपना प्रगट करता है। उस अनेकपना प्रगट करनेवाले नय से चैतन्य का एकपना/एकत्व प्राप्त नहीं होता और चैतन्य के एकपने की प्राप्ति के बिना रागरहित आनन्द का अनुभव नहीं रहता, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता।

भूतार्थनय नव तत्त्व के विकल्परहित चैतन्य का एकपना प्रगट करनेवाला है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों की श्रद्धा, वह चैतन्य का एकपना प्रगट नहीं करती और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्व की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के व्यवहाररूप में स्थापित किया जाता है किन्तु उसके द्वारा अभेद स्वभाव में एकता नहीं होती। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही आत्मा का एकपना प्राप्त होता है। अभेदस्वभाव के आश्रय से आत्मा में एकपना प्राप्त करना ही परमार्थ सम्यग्दर्शन है और वह प्रथम धर्म है।●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 108-118 ]*

आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य – ( 5 )

# 25. भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन

आत्महित के पिपासु को आत्मा का वास्तविक स्वरूप शोधने के लिए नव तत्त्वों को भलीभाँति जानना चाहिए। उसमें अपने हित-अहित के कारणों का विभाजन करके, जिसके आश्रय से अपना हित प्रगट हो – ऐसे शुद्धात्मस्वभाव के सन्मुख अन्तर में झुकना ही सम्यग्दर्शन की अफर विधि है।

नव तत्त्व का यथार्थ वर्णन जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। इन नव तत्त्वों की पहचान करना, वह जैनदर्शन की श्रद्धा का व्यवहार है। नव तत्त्व की पहचान न हो, तब तक एकरूप आत्मा की श्रद्धा नहीं होती और यदि नव तत्त्व की पृथक्-पृथक् श्रद्धा के राग की रुचि में अटक जाए तो भी एक आत्मा की श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं होता है।

नव तत्त्व को जाना कब कहा जाए? जब जीव को जीव जाने, उसमें दूसरे को नहीं मिलाएँ अर्थात् जीव, शरीर की क्रिया करता है – ऐसा नहीं मानें। अजीव को अजीव जाने। शरीर अजीव है। जीव के कारण उस अजीव का अस्तित्व नहीं मानें और उस अजीव की क्रिया को जीव की नहीं मानें।



पुण्य को पुण्यरूप में जानें, पुण्य से धर्म नहीं मानें तथा जड़ की क्रिया से पुण्य नहीं मानें; पाप को पापरूप जानें, वह पाप बाह्य क्रिया से होता है – ऐसा नहीं मानें। आस्रव को आस्रवरूप जानें, पुण्य और पाप दोनों आस्रव हैं, उन्हें संवर का कारण नहीं मानें पाप बुरा है, पुण्य भला है – ऐसा भेद परमार्थ से नहीं मानें।

संवरतत्त्व को संवररूप जानें। संवर वह धर्म है, पुण्य से अथवा शरीर की क्रिया से संवर नहीं होता, अपितु आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता से ही संवर होता है। निर्जरा अर्थात् शुद्धता की वृद्धि और अशुद्धता का नाश; उसे निर्जरा समझे। वह निर्जरा बाह्य क्रियाकाण्ड से नहीं होती, किन्तु आत्मा में एकाग्रता से होती है।

बन्धतत्त्व को बन्धरूप जाने। विकार में आत्मा की पर्याय का अटकना, वह भावबन्ध है। वास्तव में कर्म, आत्मा को बाँधते हैं अथवा परिभ्रमण कराते हैं – ऐसा नहीं मानें, किन्तु जीव अपने विकारभाव से बँधा है और इसी कारण परिभ्रमण कर रहा है – ऐसा समझे।

आत्मा की अत्यन्त निर्मलदशा, वह मोक्ष है – ऐसा जानें। इस प्रकार जानें, तब नव तत्त्वों को जाना हुआ कहा जाता है।

यह नव तत्त्व अभूतार्थनय का विषय है। अवस्थादृष्टि में नौ भेद हैं, उसकी प्रतीति करना, वह व्यवहारश्रद्धा है। उससे धर्म की उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु पुण्य की उत्पत्ति होती है। इन नव तत्त्व की पहचान में सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तथा मिथ्या देव-गुरु-शास्त्र की पहचान भी आ जाती है। इन नव तत्त्वों का जानपना भी परमार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। नव तत्त्व को जानने के पश्चात् सम्यग्दर्शन

कब होता है ? यह बात आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं।

इन नव तत्त्वों में एकपना प्रगट करनेवाले भूतार्थनय से शुद्धनयरूप स्थापित आत्मा की अनुभूति, जिसका लक्षण आत्मख्याति है, उसकी प्राप्ति होती है; यह परमार्थ सम्यग्दर्शन की विधि है। व्यवहारश्रद्धा में नव तत्त्व की प्रसिद्धि है परन्तु परमार्थश्रद्धा में तो अकेले भगवान आत्मा की ही प्रसिद्धि है। नव तत्त्व के विकल्प से पार होकर, एकरूप ज्ञायकमूर्ति का अनुभव करनेवाले ने भूतार्थनय से नव तत्त्वों को जाना हुआ कहा जाता है और वही नियम से सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना, किसी भी प्रकार से जीव के भवभ्रमण का अन्त नहीं आ सकता है।

जीव और अजीव, ये मूल तत्त्व हैं और शेष सात तत्त्व इनके निमित्त से उत्पन्न हुई पर्यायें हैं; इस प्रकार कुल नव तत्त्व हैं, वे अभूतार्थनय से हैं। भूतार्थनय से उनमें एकपना प्रगट करने से ही अर्थात् शुद्ध एकरूप आत्मा को लक्ष्य में लेने से ही सम्यग्दर्शन होता है। नव तत्त्वों को सम्यग्दर्शन का विषय कहना, वह व्यवहार का कथन है। वास्तव में सम्यग्दर्शन का विषय भेदरूप नहीं, किन्तु अभेदरूप ज्ञायक आत्मा ही है। मोक्षशास्त्र में **तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्** – ऐसा कहा है। वहाँ भी वास्तव में नौ का लक्ष्य छोड़कर, एक चैतन्यतत्त्व के सन्मुख ढलने पर ही सच्चा तत्त्वश्रद्धान कहलाता है।

अखण्ड चैतन्य वस्तु का आश्रय करने पर भूतार्थनय से एकपना प्राप्त होता है। जिसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं है और भेद का विकल्प नहीं है – ऐसे त्रिकाल शुद्धस्वभाव के सन्मुख झुककर अनुभव करने से चैतन्य का एकपना प्राप्त होता है और उस



अनुभव में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है, वह सम्यग्दर्शन है। इसके अतिरिक्त देव-गुरु इत्यादि निमित्त के आश्रय से तो सम्यग्दर्शन नहीं होता; दया, पूजादि के भावरूप पुण्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। नव तत्त्वों का भलीभाँति विचार भी अभी तो पुण्य है। जड़-शरीर की क्रिया से आत्मा को धर्म होता है – ऐसे माननेवाले को तो जीव-अजीवतत्त्व की भिन्नता की श्रद्धा भी नहीं है अथवा 'शुभभाव से पुण्य हुआ, वह अब आत्मा को सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में मदद करेगा' – ऐसी समस्त मान्यताएँ मिथ्या हैं। ऐसी मान्यतावाले को तो नव तत्त्व में से पुण्यतत्त्व का भी पता नहीं है, उसे तो शुद्ध आत्मा का अनुभव ही नहीं होता है।

पहले तो सत्समागम में श्रवण-मनन करके नव तत्त्वों को जानें, तत्पश्चात् उसमें भूतार्थनय से एकपना प्राप्त कर सकें, तब सम्यग्दर्शन होता है। भेद के लक्ष्य से नव तत्त्व की भिन्न-भिन्न श्रद्धा करने में अनेकपना है, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन नहीं है। नव तत्त्व व्यवहारनय का विषय है, उस व्यवहारनय के आश्रय से सम्यग्दर्शन नहीं होता; इस प्रकार लक्ष्य में लेकर जिसने नव तत्त्व का ज्ञान करने में भी चैतन्य की रुचि की है, उसे फिर नव तत्त्व के विकल्परहित होकर अभेद आत्मा की प्रतीति करने से निश्चयसम्यग्दर्शन होता है। ऐसा निश्चयसम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से ही होता है और वहीं से अपूर्व आत्मधर्म का प्रारम्भ होता है। ऐसे निश्चयसम्यग्दर्शन के बिना चौथा गुणस्थान अथवा धर्म की शुरुआत नहीं होती है।

यह सब समझने के लिए सत्समागम से अभ्यास करना

चाहिए। पहले संसार की तीव्र लोलुपता को घटाकर सत्समागम का समय लेकर आत्मस्वभाव का श्रवण-मनन और रुचि किये बिना अन्तरोन्मुख किस प्रकार होगा?

प्रथम, नव तत्त्व का निर्णय किया, उसमें भी जीव तो आ ही जाता है परन्तु उसमें विकल्पसहित था; इसलिए वह जीवतत्त्व अभूतार्थनय का विषय था और यहाँ सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए भूतार्थनय से विकल्परहित होकर एक अभेद आत्मा की श्रद्धा करने की बात है। भूतार्थनय के अवलम्बन से शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में लेने के अतिरिक्त व्यवहारनय के आलम्बन में चैतन्य का एकपना प्रगट करने की सामर्थ्य नहीं है।

अभूतार्थनय से देखने पर नव तत्त्व दिखते हैं परन्तु भूतार्थनय से तो एक आत्मा ही शुद्धज्ञायकरूप प्रकाशवान है। शुद्धनय से स्थापित एक आत्मा की ही अनुभूति, वह सम्यग्दर्शन है। यद्यपि अनुभूति तो ज्ञान की स्व-सन्मुख पर्याय है परन्तु उस अनुभूति के साथ सम्यग्दर्शन नियम से होता है; इसलिए यहाँ अनुभूति को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है।

व्यवहार में नव तत्त्व थे, उनके लक्षण जीव-अजीव आदि नव थे और इस शुद्धनय के विषय में एकरूप आत्मा ही है; उसमें नव की प्रसिद्धि नहीं, किन्तु चैतन्य का एकपना ही प्रसिद्ध है - ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति का लक्षण आत्मख्याति है। इस अनुभूति में विकल्प की प्रसिद्धि नहीं, किन्तु आत्मा की प्रसिद्धि है। जीव-अजीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को लक्ष्य में लेकर देखने से नव तत्त्व हैं अवश्य; उन्हें व्यवहारनय स्थापित करता है परन्तु भूतार्थनय/शुद्धनय तो एक अभेद आत्मा को ही स्थापित



करता है। जीव-अजीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पर भी वह लक्ष्य नहीं करता। आत्मा त्रिकाल एकरूप सिद्धसमान मूर्ति है - ऐसे आत्मा की श्रद्धा करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है, उसमें भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

यद्यपि देव-गुरु-शास्त्र की ओर के लक्ष्य से आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती, तथापि जिसे देव-गुरु-शास्त्र की पहचान में भी विपरीतता हो, वह तो सम्यग्दर्शन से अत्यन्त दूर है। अभी सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की भी जिसे पहचान नहीं है, नव तत्त्व की श्रद्धा का भी पता नहीं है, उसे तो व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है, उसकी तो यहाँ बात नहीं है परन्तु कोई जीव, नव तत्त्व को जानने में ही रुक जाए और नव का लक्ष्य छोड़कर एक आत्मसन्मुख न हो तो उसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता है। नव तत्त्व की श्रद्धा बीच में आती है, उसे व्यवहारश्रद्धा कब कहते हैं? यदि नव के विकल्प का आश्रय छोड़कर, भूतार्थ के आश्रय से आत्मा की ख्याति करे, आत्मा की प्रसिद्धि करे, आत्मा की अनुभूति करे तो नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं। अभेद आत्मा की श्रद्धा करके, परमार्थ श्रद्धा प्रगट करे तो नव तत्त्व की श्रद्धा पर व्यवहारश्रद्धा का उपचार आता है; वरना निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? निश्चयरहित व्यवहार को तो व्यवहाराभास कहते हैं।

श्री आचार्यदेव ने इस टीका का नाम आत्मख्याति रखा है। आत्मख्याति अर्थात् आत्मा की प्रसिद्धि। एकरूप शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि करना, अनुभूति करना, वह इस टीका का मुख्य प्रयोजन है। इस ग्रन्थ में नव तत्त्व का वर्णन आयेगा अवश्य, परन्तु उसमें मुख्यता तो एकरूप शुद्ध आत्मा की ही बतलाना है। इस प्रकार

आचार्यदेव के कथन में शुद्ध आत्मा की मुख्यता है; इसलिए श्रोताओं को भी अन्तर में एकरूप शुद्ध आत्मा को लक्ष्य में पकड़ने की मुख्यता रखकर श्रवण करना चाहिए। बीच में विकल्प और भेद का वर्णन आवे तो भी उसकी मुख्यता करके नहीं अटकते हुए शुद्ध आत्मा को ही मुख्य करके लक्ष्य में लेना चाहिए। नव तत्त्व को जानने का प्रयोजन तो आत्मस्वभाव के सन्मुख होना ही है।

नव तत्त्व में जीव को वास्तव में कब माना कहलाये? नव के भेद की सन्मुखता छोड़कर एकरूप जीवस्वभाव के सन्मुख ढले तो जीव को माना कहलाये। आस्रव-बन्धतत्त्व को कब माना कहलाये? जब उनके अभावरूप आत्मस्वभाव को माने तो आस्रव बन्ध को माना कहलाये। संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व को कब माना कहलाये? जब स्वभावसन्मुख ढलकर आंशिक संवर-निर्जरा प्रगट करे तो संवरादि को माना कहलाये। इस प्रकार नव तत्त्व को जानकर, यदि अभेद आत्मा की ओर ढले तो ही नव तत्त्व को वास्तव में जाना कहा जाता है। यदि अभेद आत्मा की तरफ नहीं ढले और नव तत्त्वों के विकल्प में ही अटक जाए तो नव तत्त्व को वास्तव में जाना - ऐसा नहीं कहा जाता।

नव तत्त्व के विकल्प भी अभेद आत्मा के अनुभव में काम नहीं आते। पहले नव तत्त्व सम्बन्धी विकल्प होते हैं परन्तु अभेद आत्मा का अनुभव करने पर वे विकल्प मिट जाते हैं, नव तत्त्व का ज्ञान रह जाता है परन्तु एकरूप आत्मा के अनुभव के समय नव तत्त्व के विकल्प नहीं होते हैं। जब ऐसा अनुभव प्रगट हो, तब चौथा गुणस्थान अर्थात् धर्म की पहली सीढ़ी कहलाता है। इसके अतिरिक्त बाह्य क्रिया से अथवा पुण्य से धर्म की शुरुआत नहीं होती।



यहाँ बाह्य क्रिया की तो बात ही नहीं है। अन्तर में नव तत्त्व का विचार करना भी अभेदस्वरूप के अन्तर अनुभव में ढलने के लिए काम नहीं आता। अभेद आत्मा में ढलना, वह नव तत्त्व के जानने का प्रयोजन है; इसलिए यदि विकल्प तोड़कर आत्मा में एकाग्र हो तो नव तत्त्व को जाना कहा जाता है।

बन्धतत्त्व को जाना कब कहा जाता है? जब उससे पृथक् हो तब। 'यह बन्ध है, यह बन्ध है' - इस प्रकार रटा करे, परन्तु यदि बन्धन से पृथक् नहीं हो तो वास्तव में बन्ध को जाना नहीं कहा जाता। इसी प्रकार नव तत्त्व को जानना कब कहा जाता है? यदि नव तत्त्व के सन्मुख ही देखा करे तो नव तत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता और आत्मा का ज्ञान भी नहीं होता। यदि आत्मस्वभाव के सन्मुख झुके तो ही नव तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हुआ कहा जाता है क्योंकि आत्मा की ओर ढलनेवाले ज्ञान में ही स्व-पर को जानने की सामर्थ्य होती है।

अजीव की ओर देखते रहने से अजीव का सच्चा ज्ञान नहीं होता, परन्तु जीव और अजीव भिन्न हैं - ऐसा समझकर अभेद चैतन्यमूर्ति शुद्ध आत्मा की ओर ढलने से स्व-पर प्रकाशक ज्ञान खिलता है। वह ज्ञान अजीवादि को भी जानता है। ज्ञान तो आत्मा का है; ज्ञान कहीं नव तत्त्वों के विकल्प का नहीं है, विकल्प से तो ज्ञान भिन्न है। ज्ञान तो आत्मा का होने पर भी यदि वह ज्ञान आत्मा की ओर ढलकर आत्मा के साथ एकता नहीं करे और राग के साथ एकता करे तो वह ज्ञान स्व-पर को यथार्थ नहीं जान सकता अर्थात् वह मिथ्याज्ञान है, अधर्म है।

राग के आश्रय बिना ज्ञायक का अनुभव करने को आत्मख्याति

कहते हैं और वह सम्यग्दर्शन है, वहाँ से धर्म का प्रारम्भ होता है। यहाँ दृष्टि में परिपूर्ण आत्मा का स्वीकार हुआ है, आँशिक वीतरागता भी हुई है और अभी पूर्ण वीतरागता प्रगट करने का काम शेष है, वह श्रद्धा के बल से अल्प काल में पूरा कर लेगा।

चौथे गुणस्थान में सम्यक् आत्मभान होने पर दृष्टि में पूरा स्वरूप आ गया है; इसीलिए श्रद्धा से तो कृतकृत्यता हो गयी है परन्तु अभी आत्मा को केवलज्ञानरूप विकास नहीं हुआ है, वीतरागपना नहीं हुआ है। मैं त्रिकाल-चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य हूँ, अजीवतत्त्व मुझसे भिन्न हैं और दूसरे सातों तत्त्व हैं, वे क्षणिक हैं; इस प्रकार धर्मी को भी नव तत्त्व के भेद का विकल्प आता है परन्तु धर्मी को उस विकल्प में एकताबुद्धि नहीं है; इसलिए विकल्प की मुख्यता नहीं है किन्तु अभेद चैतन्य की ही मुख्यता है और आत्मा में एकाग्र होकर वीतराग होने पर वैसे विकल्प होते ही नहीं हैं।

देखो, यह आत्मकल्याण के लिए अपूर्व बात है। यह कोई दूसरों के लिए नहीं, किन्तु मेरे लिए ही है – ऐसा सुलटा होकर स्वयं अपने ऊपर घटित न करे तो उस जीव को समझने की दरकार नहीं है और उसे आत्मा की यह बात अन्तर में समझ में नहीं आयेगी। इसलिए आत्मार्थी जीवों को अन्तर में अपने आत्मा के साथ इस बात का मिलान करना चाहिए।

अहो! इस गाथा में भगवान कहते हैं कि **भूयत्थेण अभिगदा...** नव तत्त्वों को भूतार्थ से जानना, वह सम्यग्दर्शन है। वास्तव में भूतार्थनय के विषय में नव तत्त्व हैं ही नहीं; नव तत्त्व तो अभूतार्थनय का विषय है। भूतार्थनय का विषय तो अकेला ज्ञायक आत्मा ही है। जो एक शुद्ध ज्ञायक की ओर झुका, उसे नव तत्त्व का ज्ञान



यथार्थ हो गया। एक चैतन्यतत्त्व को भूतार्थ से जानने से सम्यग्दर्शन होता है – यह सम्यग्दर्शन का नियम कहा है। नव तत्त्व के विकल्प, वे कोई नियम से सम्यग्दर्शन नहीं हैं। वे विकल्प हों, तब सम्यग्दर्शन हो भी अथवा न भी हो; इसलिए वहाँ सम्यग्दर्शन होने का नियम नहीं कहा। जबकि जहाँ भूतार्थस्वभाव का आश्रय होता है, वहाँ तो सम्यग्दर्शन नियम से होता ही है; इसलिए वहाँ सम्यग्दर्शन का नियम कहा है।

अब, जो नव तत्त्व कहे हैं, उनमें पर्यायरूप सात तत्त्वोंरूप एक जीव और दूसरा अजीव – इन दोनों का स्वतन्त्र परिणमन बतलाते हैं। जीव और अजीव तो त्रिकाली तत्त्व हैं, उनकी अवस्था में जीव की योग्यता और अजीव का निमित्तपना – ऐसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से पुण्य-पाप इत्यादि सात तत्त्व होते हैं। वहाँ विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला – यह दोनों पुण्य हैं तथा यह दोनों पाप हैं; उनमें एक जीव है और दूसरा अजीव है। तात्पर्य यह है कि विकारी होने योग्य जीव है और विकार करनेवाला अजीव है। जीव के विकार में अजीव निमित्त है; इसलिए यहाँ अजीव को विकार करनेवाला कहा है – ऐसा समझना चाहिए।

जीव स्वयं ही विकारी होने योग्य है; कोई दूसरा उसे बलजोरी से विकार कराता है – ऐसा नहीं है। जीव सर्वथा कूटस्थ अथवा सर्वथा शुद्ध नहीं है परन्तु पुण्य-पापरूप विकारी होने की योग्यता उसकी अवस्था में है और उस योग्यता में अजीव निमित्त है। अजीव को विकार करनेवाला कहा, इसका अर्थ यह है कि वह निमित्त है – ऐसा समझना चाहिए। जीव की योग्यता है और अजीव निमित्त है। जब जीव में अपनी योग्यता से ही विकार होता

है, तब निमित्तरूप में अजीव को विकार करानेवाला कहते हैं परन्तु यदि जीव में विकार की योग्यता न हो तो अजीव उसे विकार नहीं कराता।

जीव की योग्यता से विकार होता है, वह जीवपुण्य-पाप है और उसमें निमित्त अजीव है, वह अजीवपुण्य-पाप है; इस प्रकार जीव और अजीव दोनों का स्वतन्त्र परिणमन है। इसी तरह सातों तत्त्वों में एक जीव और दूसरा अजीव है - ऐसे दो-दो प्रकार यहाँ लेंगे।

जीव और अजीव ये दो तो स्वतन्त्र त्रिकाली तत्त्व हैं और इन दोनों की अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन किस प्रकार है ? - वह बतलाते हैं। देखो, यह सब भी अभी तो नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा है। पुण्य और पाप, दोनों विकार हैं। विकारी होने का जीव का त्रिकालीस्वभाव नहीं है परन्तु अवस्था की योग्यता है और उसमें अजीव निमित्त है। जीव में पुण्य-पाप होते हैं, यदि वे अजीव के निमित्त बिना ही होते हों तो वह जीव का स्वभाव ही हो जाएगा और कभी मिटेगा ही नहीं। इसी प्रकार यदि निमित्त के कारण विकार होता हो तो जीव की वर्तमान अवस्था की योग्यता स्वतन्त्र नहीं रहेगी और जीव उस विकार का अभाव नहीं कर सकेगा; इसलिए यहाँ उपादान-निमित्त दोनों की एक साथ पहचान कराते हैं।

जैसे, कम-ज्यादा पानी के संयोगरूप निमित्त के बिना अकेले आटे में 'यह रोटी का आटा, यह पूड़ी का आटा अथवा यह भाखरी का आटा है' - ऐसे भेद नहीं पड़ते। वहाँ आटे की वैसी योग्यता है और उसमें पानी का निमित्त भी है। इसी प्रकार चैतन्य भगवान



आनन्दमूर्ति एकरूप है, उसमें पर-संयोग अर्थात् कर्म के निमित्त के बिना अकेले स्वयं से ही पुण्य-पाप इत्यादि सात भेद नहीं पड़ते। उन सात तत्त्वों की योग्यता तो जीव में स्वयं में ही है परन्तु उसमें अजीव का निमित्त भी है; अजीव की अपेक्षा बिना अकेले जीवतत्त्व में सात प्रकार नहीं पड़ते। जीव ने अपनी योग्यता से पुण्य-परिणाम किया है, वह जीवपुण्य है और उसमें जो कर्म निमित्त है, वह अजीवपुण्य है; दोनों में अपनी-अपनी स्वतन्त्र योग्यता है। अजीव में जो पुण्य होता है, वह जीव के कारण नहीं होता और जीव में जो पुण्यभाव होता है, वह अजीव के कारण नहीं होता। वर्तमान एक समय में दोनों एक साथ हैं, उसमें जीव की योग्यता और अजीव का निमित्त - ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित इन नव तत्त्वों को समझे तो स्थूल विपरीतमान्यताओं का तो अभाव हो ही जाता है। नव तत्त्व को माननेवाला जीव, ईश्वर को कर्ता नहीं मानता; वस्तु को सर्वथा कूटस्थ अथवा क्षणिक नहीं मानता। नव तत्त्व को माने तो जीव का परिणमन भी मानेगा; इसलिए जीव को कूटस्थ नहीं मान सकता तथा अजीव को भी कूटस्थ नहीं मान सकता। जगत् में भिन्न-भिन्न अनेक जीव-अजीव द्रव्य माने, एक द्रव्य में अनेक गुण माने, उनका परिणमन माने, उसमें विकार माने और उसे अभाव करने का उपाय है - ऐसा जानें, तभी नव तत्त्व को माने कहा जा सकते हैं। जो नव तत्त्व को मानता है, वह जगत् में एक कूटस्थ सर्वव्यापी ब्रह्म ही है - ऐसा नहीं मान सकता। सम्यग्दर्शन प्रगट करने की तैयारीवाले जीव को प्रथम, नव तत्त्व की ऐसी श्रद्धारूप आँगन आता है।

यहाँ श्री आचार्यदेव ने सातों तत्त्वों में जीव की योग्यता की बात कही है। जीव की वर्तमान पर्याय की योग्यता से ही पुण्य होता है। पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उसमें भगवान के दर्शन के समय अमुक प्रकार का शुभभाव होता है; शास्त्र श्रवण के समय अमुक जाति का शुभभाव होता है और दया-दान इत्यादि में अमुक प्रकार का शुभभाव होता है - ऐसा क्यों? क्या निमित्त के कारण वैसे प्रकार पड़ते हैं? तो कहते हैं कि नहीं; उस-उस समय की जीव की विकारी होने की योग्यता ही उस प्रकार की है। इतना स्वीकार करनेवाले को तो अभी पर्यायदृष्टि से अर्थात् व्यवहारदृष्टि से अथवा अभूतार्थदृष्टि से जीव को तथा पुण्यादि तत्त्व को स्वीकार किया कहा जाता है; परमार्थ में तो यह नव तत्त्व के विकल्प भी नहीं हैं।

मिथ्यात्व तथा हिंसादि भाव, वह पापतत्त्व है, उसमें भी पापरूप होने योग्य और पाप करनेवाला - यह दोनों जीव और अजीव हैं अर्थात् पापभाव होता है, उसमें जीव की योग्यता है और अजीव निमित्त है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, इसलिए 'विकारी होने की योग्यता' में ही पुण्य और पाप दोनों ले लिये हैं। निमित्त के बिना वे नहीं होते और निमित्त के कारण भी नहीं होते। जीव की योग्यता से ही होते हैं और अजीव निमित्त हैं। 'योग्यता' कहने पर उसमें यह सभी न्याय आ जाते हैं।

यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीव, विकार को अपना स्वरूप नहीं मानते; फिर भी उनको विकार होता है, वहाँ चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण सम्यग्दृष्टि को विकार होता है - ऐसा नहीं है परन्तु उस भूमिका में रहनेवाले जीव के परिणाम में ही पुण्य अथवा पाप होने की उस प्रकार की योग्यता है, उसमें अजीव कर्म तो निमित्तमात्र है।



मिथ्यात्व के पाप में, मिथ्यात्वकर्म का उदय निमित्त है परन्तु जिस जीव को मिथ्यात्व का पाप हुआ, वहाँ उस जीव की पर्याय में ही वैसी योग्यता है। यद्यपि मिथ्यात्वकर्म के कारण, मिथ्यात्व नहीं हुआ है, तथापि मिथ्यात्वादि भाव में अजीव कर्म निमित्त न हो - ऐसा भी नहीं होता है। अकेले (जीव) तत्त्व में पर की अपेक्षा बिना विकार नहीं होता है। यदि अकेले (जीव) तत्त्व में परलक्ष्य के बिना विकार होता हो, तब तो वह विकार, स्वभाव ही हो जाएगा।

यहाँ जीव को अपनी योग्यता में रागादि बढ़ते-घटते हैं अर्थात् पुण्य-पाप इत्यादि की हीनाधिकता होती है तो उसके निमित्तरूप सामने अजीव में भी हीनाधिकता माननी पड़ेगी। वह हीनाधिकता अनेक द्रव्य के बिना नहीं हो सकती है; इसलिए पुद्गल में संयोग-वियोग, स्कन्ध इत्यादि मानना पड़ेगा। जैसे, यहाँ जीव के उपादान की योग्यता में अनेक प्रकार पड़ते हैं; उसी प्रकार सामने निमित्तरूप अजीवकर्म में भी अनेक प्रकार पड़ते हैं। ऐसा होने पर भी कोई द्रव्य किसी द्रव्य का शत्रु तो है ही नहीं। अजीवकर्म, शत्रु होकर जीव को जबरदस्ती विकार कराता है - ऐसा नहीं है। अजीव को विकार करनेवाला कहा है, वह निमित्तरूप कहा है।

यह गाथा बहुत सरस है, नव तत्त्व समझकर भूतार्थस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट करने की अद्भुत बात इस गाथा में आचार्यदेव ने की है। उसे समझकर अन्तरङ्ग में मनन करने योग्य है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 119-130 ]*

आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य – (6)

# २६. नव तत्त्व का स्वरूप और जीव–अजीव के परिणमन की स्वतन्त्रता

यह धर्म की बात चलती है। सबसे पहला धर्म, सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन कैसे हो ? उसकी बात इस तेरहवीं गाथा में है। जिसे आत्मा का धर्म करना है, उसे प्रथम नव तत्त्वों का पृथक् –पृथक् ज्ञान करना चाहिए। ये नव तत्त्व पर्यायगत हैं। त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि में नव प्रकार के भेद नहीं हैं; इसलिए स्वभाव के अनुभवरूप आनन्द के समय तो नव तत्त्वों का लक्ष्य छूट जाता है परन्तु सर्व प्रथम जो नव तत्त्वों को पृथक्–पृथक् नहीं समझता, उसे एक अभेद आत्मा की श्रद्धा और अनुभव नहीं हो सकता।

नव तत्त्व को व्यवहार से जैसा है, वैसा जानकर उन नव में से एक अभेद चैतन्यतत्त्व की अन्तर्दृष्टि व प्रतीति शुद्धनय से करना, वह निश्चयसम्यग्दर्शन है और वही सच्चे धर्म की शुरुआत है। यह बात समझे बिना अज्ञानी जीव, बाह्य क्रियाकाण्ड के लक्ष्य से राग की मन्दता से पुण्य बाँधकर चार गतियों में परिभ्रमण करते हैं परन्तु आत्मा का कल्याण क्या है ? यह बात उन्हें नहीं सूझती और उन्हें धर्म भी नहीं होता।



आत्मा त्रिकाली चैतन्यवस्तु है, वह जीव है और शरीरादि अचेतन वस्तुएँ हैं, वे अजीव हैं। जीवतत्त्व तो त्रिकाल चैतन्यमय है, उसकी अवस्था में अजीव के लक्ष्य से विकार होता है, वह वास्तव में जीवतत्त्व नहीं है, फिर भी उसकी अवस्था में पुण्य–पाप के विकार होने की योग्यता जीव की अपनी है। दया, पूजा इत्यादि भाव, वह शुभराग हैं, पुण्य है; उस विकाररूप होने की योग्यता जीव की अपनी अवस्था में है और उसमें निमित्तरूप अजीव परमाणुओं में भी पुण्यकर्मरूप होने की स्वतन्त्र योग्यता है।

पुण्य के असंख्य प्रकार हैं, उसमें जीव अपनी जैसी भूमिका हो, वैसे परिणामरूप परिणमता है। पुण्य के असंख्यात प्रकारों में से किसी समय दया का विकल्प होता है, किसी समय ब्रह्मचर्य का विकल्प होता है, किसी समय दान का अथवा पूजा–भक्ति –स्वाध्याय का विकल्प होता है, किसी समय नव तत्त्व के विचार का सूक्ष्म विकल्प होता है – ऐसी उस–उस भूमिका के परिणाम की ही योग्यता है। जब अपनी एक पर्याय के कारण भी दूसरी पर्याय नहीं होती तो फिर निमित्त से आत्मा का भाव हो – यह बात तो कहाँ रही ?

पुण्य की तरह हिंसा, कुटिलता इत्यादि पापपरिणाम हों, उनमें भी उस–उस क्षण की, उस जीव की अवस्था में वैसी ही उलटी योग्यता है अर्थात् जीव, विकारी होने योग्य है और पुद्गलकर्म उसमें निमित्त है; इसलिए उसे विकार **करानेवाला** कहते हैं। जीव और अजीव दोनों पदार्थों की अवस्था अपनी–अपनी स्वतन्त्र योग्यता से ही होती है। कोई एक दूसरे के कर्ता नहीं हैं परन्तु पुण्य–पाप इत्यादि जीव की विकारी पर्याय हैं; इसलिए उसमें निमित्त का भी

ज्ञान कराते हैं। अकेले जीवतत्त्व में अपनी ही अपेक्षा से सात भेद नहीं पड़ते हैं। एक तत्त्व में सात अवस्था के प्रकार पड़ने पर उसमें निमित्त की अपेक्षा आती है। आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप होने में जीव की योग्यता है और अजीव उसमें निमित्त है, उस निमित्त को भी पुण्य-पाप कहा जाता है।

पाँचवाँ, आस्रवतत्त्व है। उस आस्रवतत्त्व के भी असंख्य प्रकार हैं। उस आस्रवरूप होने की जीव की योग्यता है। यहाँ 'योग्यता' कहकर आचार्यदेव ने जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता बतलाई है। जो जीव के परिणाम की स्वतन्त्रता निश्चित न करे, उसमें त्रिकाली स्वयं-सिद्ध स्वतन्त्र वस्तु की श्रद्धा करके, सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता नहीं हो सकती।

जीव की अवस्था में जो आस्रवभाव होता है, वह जीव आस्रव है और उसमें निमित्तरूप अजीवकर्म, वह अजीवआस्रव है। यदि विकारी आस्रव को ही जीवतत्त्व में लें तो वह जीव, विकार में ही अटक जाएगा और उसे धर्म नहीं होगा।अवस्था में वह विकार अपने अपराध से होता है - यदि ऐसा नहीं जानें तो उस विकार के अभाव का प्रसङ्ग कैसे बनेगा ? जीव की अवस्था में जैसे परिणाम की योग्यता होती है, वैसा आस्रव आदि भाव होता है - ऐसा आचार्यदेव ने कहा है। तात्पर्य यह है कि शरीरादि बाह्य की क्रिया से आस्रव होता है, यह बात उड़ा दी है। जीव-अजीव की पर्याय की इतनी स्वतन्त्रता स्वीकार करें, तब नव तत्त्व को व्यवहार से स्वीकार किया कहा जाता है।

जीव के जिस विकारीभाव के निमित्त से जड़कर्मों का आना होता है, उस भाव को आस्रव कहते हैं, वह जीव आस्रव है। एक



समयमात्र का आस्रव, जीव की योग्यता से होता है - ऐसा निश्चित किया, उसमें उस समय कर्तृत्व-भोक्तृत्व इत्यादि गुण की वैसी ही योग्यता है - ऐसा भी आ जाता है। ज्ञान को वैसा ही जानने की योग्यता है; चारित्र में उसी प्रकार के परिणमन की योग्यता है; इसलिए पर के समक्ष देखना नहीं रहता, किन्तु अपनी योग्यता के समक्ष देखना रहा।

यदि प्रत्येक समय की स्वतन्त्रता निश्चित करे तो पर के आश्रय की मिथ्याबुद्धि छूट जाए तथा एक समय की पर्याय की योग्यता जितना मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा निश्चित करके, एक समय की पर्याय का आश्रय छोड़कर, त्रिकालीस्वभाव के सन्मुख ढले बिना नहीं रहे। 'पर्याय का आश्रय छोड़ना' - ऐसा समझने के लिए कहा जाता है परन्तु वस्तुतः तो अखण्ड द्रव्य के सन्मुख ढलने पर पर्याय का आश्रय रहता ही नहीं है। मैं पर्याय का आश्रय छोड़ूँ - ऐसे लक्ष्य से पर्याय का आश्रय नहीं छूटता है; पर्याय को द्रव्य में अन्तर्लीन करने पर पर्याय का आश्रय छूट जाता है।

नव तत्त्व की श्रद्धा के बिना सीधे आत्मा की श्रद्धा नहीं होती है और नव तत्त्व की श्रद्धा के विकल्प करनेमात्र से सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता है।

जीव की पर्याय और अजीव की पर्याय - ये दोनों भिन्न -भिन्न हैं। जीव के विकार के कारण जड़कर्म में आस्रवदशा होती है - ऐसा नहीं है परन्तु उस अजीव में वैसी योग्यता है और अजीवकर्म के कारण आत्मा में विकार होता है - ऐसा भी नहीं है; वहाँ जीव की अपनी वर्तमान योग्यता है। प्रति समय कर्म के जो -जो रजकण आते हैं, वह विकार के प्रमाण में ही आते हैं - ऐसा

निमित्त-नैमित्तिक का सुमेल होने पर भी विकार के कारण वे रजकण नहीं आते; दोनों का वैसा ही स्वभाव है। जैसे, तराजू के एक पलड़े में एक किलो का बाँट रखकर, दूसरे पलड़े में एक किलो वस्तु रखे तब काँटा बराबर रहता है - ऐसा ही उसका स्वभाव है; उसमें उसे ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार जड़कर्मों को कुछ पता नहीं है कि इस जीव ने कितना विकार किया है; इसलिए उसके पास जाऊँ? परन्तु उसकी अपनी योग्यता से ही वह वैसे कर्मरूप परिणम जाता है। विकार के प्रमाण में ही कर्म आते हैं - ऐसा उनका स्वभाव है। विकार को जानकर आस्रवरहित शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करना ही प्रयोजन है। यह जानकर भी शुद्ध आत्मा की श्रद्धा किये बिना, कभी धर्म नहीं होता है।

छठवाँ, संवरतत्त्व है। संवर अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मलदशा। वह संवर कोई देव-शास्त्र-गुरु से अथवा बाह्य क्रिया से नहीं होता, किन्तु जीव की अपनी योग्यता से होता है। वह संवर, जीवद्रव्य के आश्रय से होता है परन्तु यहाँ संवरतत्त्व किस प्रकार प्रगट होता है? यह बात नहीं बतलाना है। यहाँ तो मात्र संवरतत्त्व है, इतना ही सिद्ध करना है। संवरतत्त्व कैसे प्रगट हो? - यह बात बाद में की जाएगी। जड़कर्म हटें तो सम्यग्दर्शनादि होते हैं - ऐसी परतन्त्रता नहीं है। सम्यग्दर्शनादि होने की योग्यता जीव की अपनी है। अन्तरस्वभाव में एकता होने पर जो संवर-निर्जरा के शुद्ध अंश प्रगट होते हैं, वह तो अभेद आत्मा में एकरूप हो जाते हैं परन्तु जब नव तत्त्व के भेद से विचार करते हैं, तब जीव की पर्याय की योग्यता है - ऐसा कहते हैं। उसमें द्रव्य-पर्याय का भेद पाड़कर कथन है। नव तत्त्व के भेद पाड़कर संवर-पर्याय को लक्ष्य में लेने



से कर्म के निमित्त की अपेक्षा आती है। अकेले अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वह भेद नहीं पड़ते हैं। संवर की निर्मलपर्याय प्रगट हुई, वह अभेद में ही मिल जाती है।

जीव में संवर के काल में कर्म के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय की ही योग्यता उसके कारण ही होती है, वह अजीवसंवर है। जीव में विकार के समय, कर्म में उदय की योग्यता होती है और जीव में संवर के समय, कर्म में उपशम इत्यादि की ही योग्यता होती है - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अकेले जीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लो तो सात तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं तथा अकेले अजीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लो तो भी सात तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं। जीव और अजीव को एक-दूसरे की अपेक्षा से अवस्था में सात तत्त्व होते हैं। उन दोनों की अवस्था में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है। जीव में सात तथा अजीव में भी सात भेद पड़ते हैं। उन सात तत्त्वों का लक्ष्य छोड़कर, अकेले चैतन्यतत्त्व को ही अभेदरूप से लक्ष्य में लेने पर उसमें सात प्रकार नहीं पड़ते और सात प्रकार के विकल्प उत्पन्न नहीं होते, परन्तु निर्मलपर्याय होकर अभेद में मिल जाती है।

जगत् में जीव और अजीव वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं - ऐसा मानकर उनका स्वतन्त्र परिणमन मानें और उसमें एक-दूसरे की अपेक्षा मानें, तब नव तत्त्वों को व्यवहार से माना जा सकता है परन्तु इस जगत् में अकेला ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही है अथवा अकेले जड़ पदार्थ ही हैं - ऐसा मानें अथवा जड़-चेतन दोनों अवस्था स्वतन्त्र नहीं मानें तो उसे नव तत्त्वों की यथार्थ मान्यता नहीं हो सकती है। नव तत्त्वों को मानने में तो व्यवहारवीर्य है अर्थात् शुभविकल्प का

अल्प वीर्य है और फिर अनन्त वीर्यरूप चैतन्यद्रव्य की तरफ ढले, तब एक शुद्ध आत्मा की प्रतीति होती है।

नव तत्त्व की प्रतीति की अपेक्षा अभेद चैतन्यतत्त्व की प्रतीति करने में अलग ही जाति का बेहद पुरुषार्थ है परन्तु जिसमें एक पैसा देने की सामर्थ्य नहीं है, वह अरबों रुपये कहाँ से दे सकेगा? इसी प्रकार जो कुदेवादि को मानता है, उसमें नव तत्त्व के सच्चे विचार की भी ताकत नहीं है। जहाँ नव तत्त्व के विचार की भी ताकत नहीं है, वहाँ वह जीव, अभेद आत्मा की निर्विकल्पश्रद्धा, अनुभव कैसे कर सकेगा? और इसके बिना उसे धर्म अथवा शान्ति नहीं होगी।

यहाँ आचार्यदेव शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव कराने के लक्ष्य से प्रथम तो नव तत्त्वों की पहचान कराते हैं। उसमें से छठवें संवर तत्त्व की व्याख्या चल रही है। जीव और अजीव को ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि जीव की अवस्था में जब निर्मल सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होकर अशुद्धता रूक जाती है, तब अजीव परमाणुओं में भी कर्मरूप परिणमन नहीं होता, इसे संवर कहते हैं। जीव में संवररूप होने की योग्यता है और अजीव परमाणु उसमें निमित्त होने से उन्हें संवर कहते हैं।

जीव के निर्मलभाव का निमित्त पाकर कर्म के परमाणु आना रुक गये, उसे संवर कहते हैं।

**प्रश्न** – क्या परमाणु आते हुए रुक गये?

**उत्तर** – परमाणु आना ही नहीं थे; इसलिए नहीं आये। 'कोई अमुक परमाणुओं में कर्मरूप परिणमन होना था परन्तु जीव में शुद्धभाव प्रगट होने के कारण वह परिणमन रुक गया' – ऐसा नहीं है। उन परमाणुओं में भी उस समय कर्मरूप होने की योग्यता ही नहीं थी। शास्त्रों में तो अनेक प्रकार की शैली से कथन आता है परन्तु वस्तुस्वरूप क्या है? – वह लक्ष्य में रखकर इसका आशय समझना चाहिए।



पहले विकार के समय कर्म-परमाणु आते थे और अब संवरभाव प्रगट हुआ, उस समय कर्म-परमाणु नहीं आते, उसे संवर कहा है। जीव-अजीव दोनों का ऐसा सहज मेल है कि जहाँ आत्मा में धर्म की योग्यता और संवरभाव प्रगट हुआ, वहाँ उसे कर्मों का आना होता ही नहीं, पुद्गल में उस समय वैसा परिणमन होता ही नहीं; इसलिए आने योग्य नहीं थे उन परमाणुओं को संवर में निमित्त कहा अर्थात् पुद्गल में कर्मरूप परिणमन के अभाव को संवर में निमित्त कहा है।

अहो! प्रत्येक द्रव्य और पर्याय की स्वतन्त्रता जाने बिना स्वतत्त्व की रुचि करके स्वभाव तरफ ढलेगा कब? नव तत्त्व के ज्ञान में प्रत्येक द्रव्य-पर्याय की स्वतन्त्रता का ज्ञान तथा देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान भी आ जाता है।

सातवाँ, निर्जरा तत्त्व है। आत्मा का भान होने पर अशुद्धता का अभाव होता जाता है और शुद्धता बढ़ती जाती है, इसका नाम निर्जरा है। वह जीव की अवस्था की योग्यता है, किसी बाहर की क्रिया से वह योग्यता नहीं हुई है। जीव में निर्जराभाव प्रगट हो, उस काल में कर्म खिर जाते हैं, वह अजीवनिर्जरा है, उसमें अजीव की योग्यता है। जीव और अजीव दोनों में अपनी-अपनी निर्जरा की

योग्यता है। आत्मस्वभाव की दृष्टि और एकाग्रता द्वारा चैतन्य की शुद्धता होने पर अशुद्धता का अभाव हुआ, वह जीव की अपनी योग्यता है और उस समय निमित्तरूप कर्म उनके कारण स्वयं अभावरूप हुए हैं। आत्मा ने कर्मों का नाश किया है, यह कहना तो निमित्त का कथन है।

**णमो अरिहंताणं** के भावार्थ में भी अज्ञानी को आपत्ति लगे – ऐसा है। 'अरिहन्त अर्थात् कर्मरूपी शत्रु को हरनेवाले'; इसलिए भगवान के आत्मा ने जड़कर्मों का नाश किया है – ऐसा अज्ञानी तो वास्तव में मान लेगा, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि नहीं; वास्तव में ऐसा नहीं है। जड़कर्म, आत्मा के शत्रु हैं और भगवान ने कर्मों का नाश किया है – यह कथन तो निमित्त से है। कोई जड़कर्म, आत्मा का शत्रु नहीं है तथा आत्मा किसी जड़कर्म का स्वामी नहीं है कि वह उसका अभाव कर दे। जीव, अज्ञानभाव से स्वयं अपना शत्रु था, तब निमित्त कर्मों को उपचार से शत्रु कहा गया और जीव ने शुद्धता प्रगट करके, अशुद्धता का अभाव किया, वहाँ निमित्तरूप कर्म भी स्वयं विनष्ट हो गये; इसलिए कर्मों ने आत्मा का नाश किया — ऐसा उपचार से कहा जाता है। इस प्रकार जीव और अजीव दोनों का भिन्नपना रखकर शास्त्रों का अर्थ समझना चाहिए।

अरिहन्त भगवान, भाषावर्गणा को ग्रहण करते हैं और फिर सामनेवाले जीव की योग्यता प्रमाण वह भाषा छोड़ते हैं – इस प्रकार जो भगवान को अजीव का कर्ता मानता है, वह अज्ञानी है। उसने जीव को अजीव का स्वामी माना है, उसे वस्तु की स्वतन्त्रता का पता नहीं है तथा केवली के स्वरूप का भी पता नहीं है। केवली को वाणी का कर्ता मानकर, वह केवलीप्रभु का अवर्णवाद करता



है। वीतरागदेव क्या वस्तुस्वरूप कहते हैं? – यह समझे बिना बहुत लोगों का मनुष्यजन्म व्यर्थ चला जा रहा है। सात तत्त्वों में जीव और अजीव के स्वतन्त्र निमित्त-नैमित्तिकपने की श्रद्धा करना, वह तो व्यवहारश्रद्धा में आ जाती है; परमार्थश्रद्धा तो उससे अलग है। जितने प्रमाण में जीव शुद्धता करता है और अशुद्धता मिटती है, उतने ही प्रमाण में कर्मों की निर्जरा होती है; फिर भी दोनों का परिणमन स्वतन्त्र है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण पर्याय में वैसा मेल हो जाता है।

आठवाँ, बन्धतत्त्व है। जीव, विकारभाव में अटकता है, उसका नाम बन्धन है। बन्धनयोग्य जीव की अवस्था है और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म को बन्धन करनेवाला कहते हैं परन्तु कर्म ने जीव को बन्धन कराया – ऐसा नहीं है; योग्यता तो जीव की अवस्था की है। आत्मा में बन्धन की योग्यता हुई; इसलिए कर्म को बँधना पड़ा – ऐसा भी नहीं है और कर्म के कारण जीव बँधा – ऐसा भी नहीं है। जिसने स्वभाव के एकपने की श्रद्धा की है, उसे पर्याय की योग्यता का यथार्थ ज्ञान होता है। मात्र नव तत्त्व को जाने, परन्तु अन्तर में स्वभाव की एकता की ओर नहीं ढले तो यथार्थ ज्ञान नहीं होता और सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं होता।

जैसे, माता-पिता को हँसता देखकर कोई बालक भी साथ ही हँसने लगता है परन्तु वे किसलिए हँसते हैं? इसका उसे पता नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी, आत्मा के सत् स्वभाव की अपूर्व बात करते हैं। वहाँ उसे समझकर उसकी हाँ करके जो उत्साह बताता है, वह तो आत्मा का अपूर्व लाभ प्राप्त करता है और कितने ही जीव यह बात समझे बिना उत्साह बताते हैं; ज्ञानी कुछ आत्मा की अच्छी

बात कहते हैं – ऐसा विचार कर हाँ करके मान लेते हैं परन्तु उसका भाव क्या है ? – वह स्वयं अन्तर में नहीं समझे तो उसे आत्मा की समझ का यथार्थ लाभ नहीं होता; मात्र पुण्य बँधकर छूट जाता है। अन्तर में स्वयं तत्त्व का निर्णय करे, उसी की वास्तविक कीमत है। स्वयं तत्त्व का निर्णय किये बिना हाँ करेगा तो वह टिकेगी नहीं।

**प्रश्न** – पर्यायदृष्टि से नव तत्त्व जानना व्यवहार है, उनसे अभेद आत्मा की श्रद्धा का लाभ नहीं होता; इसलिए उसमें उत्साह कैसे आयेगा ?

**उत्तर** – व्यवहार का उत्साह करने को कौन कहते हैं ? परन्तु जिसे अभेद आत्मा के अनुभव का उत्साह है, उसे बीच में नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा आ जाती है। अभेदस्वभाव के लक्ष्य की ओर ढलने में प्रथम आँगनरूप में मिथ्या तत्त्व की मान्यता छोड़कर सच्चे नव तत्त्व का निर्णय करने में उत्साह आये बिना नहीं रहता, परन्तु नव तत्त्व के विकल्प की प्रधानता नहीं है, अपितु अभेद स्वभाव का लक्ष्य करने की प्रधानता है; उसका ही उत्साह है। नव तत्त्व का निर्णय भी कुतत्त्व से छुड़ानेमात्र ही कार्यकारी है। यदि पहले से ही अभेद चैतन्य को लक्ष्य में लेने का आशय हो तो बीच में आयी हुई नव तत्त्व की श्रद्धा को व्यवहारश्रद्धा कहते हैं परन्तु जिसे पहले से ही व्यवहार के आश्रय की बुद्धि है, वह जीव तो व्यवहारमूढ है; उसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है।

मात्र नव तत्त्व के विचार से सम्यग्दर्शन नहीं होता, परन्तु अभेद स्वरूप के अनुभव में नहीं पहुँच सके, तब बीच में अभेद



के लक्ष्य से नव तत्त्व के विचार आये बिना नहीं रहते हैं। जिस प्रकार वारदान के बिना माल नहीं होता और वारदान स्वयं भी माल नहीं है; इसी प्रकार नव तत्त्व को जाने बिना सम्यक्श्रद्धा नहीं होती और नव तत्त्व के विचार भी स्वयं सम्यक्श्रद्धा नहीं है। विकल्प से भिन्न पढ़कर अभेद आत्मा का अनुभव करना ही सम्यक्श्रद्धा का लक्षण है – ऐसा सम्यग्दर्शन का निश्चय-व्यवहार है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है; इसके अतिरिक्त जगत् के दूसरे किसी बाह्य कर्तव्य को आत्मार्थी जीव अपना कर्तव्य मानता ही नहीं है।

अहो! जीव का स्वभाव ज्ञायक शुद्ध चैतन्य है। उसमें तो बन्धन अथवा अपूर्णता नहीं है। ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से तो जीव में बन्ध-मोक्ष इत्यादि सातों तत्त्व नहीं हैं परन्तु वर्तमान अवस्था में विकार से भावबन्धन की योग्यता है। कर्मों ने जीव को परिभ्रमण नहीं कराया है, कर्म तो निमित्तमात्र हैं; जीव अपने विकार से परिभ्रमण करे, तब कर्मों को निमित्तरूप से परिभ्रमण करानेवाला कहा है। बड़े-बड़े नामधारी त्यागी और विद्वान् भी इस बात में गोता खाते हैं। जैसे, पानी के संयोग का ज्ञान कराने के लिए पीतल के कलश को भी पानी का कलश कहते हैं; उसी प्रकार जब जीव अपने विपरीतभाव से परिभ्रमण करता है, तब निमित्तरूप में जड़कर्म होते हैं, यह बताने के लिए 'कर्म ने जीव को परिभ्रमण कराया' – ऐसा व्यवहार का कथन है। उसके बदले अज्ञानी उस कथन को भी पकड़ बैठे हैं।

देखो ! कर्मों ने जीव को परिभ्रमण कराया – ऐसी मान्यता को तो यहाँ व्यवहारश्रद्धा में भी नहीं लिया है। जीव-अजीव को भिन्न-भिन्न जानें, जीव की अवस्था में बन्धतत्त्व की योग्यता है और पुद्गल में कर्मरूप होने की उसकी स्वतन्त्र योग्यता है – ऐसे दोनों को भिन्न-भिन्न जानें, उसे यहाँ व्यवहारश्रद्धा कहा जाता है और वह सम्यग्दर्शन का व्यवहार है।

अभी लोगों को सम्यग्दर्शन के व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है और वे चारित्र के व्यवहार में उतर पड़े हैं। अनादि की बाह्यदृष्टि है; इसलिए शीघ्र बाह्य त्याग में उतर पड़ते हैं। बाहर से कुछ त्याग दिखता है, इसलिए हमने कुछ किया है – ऐसा मानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु अन्दर में तो महा मिथ्यात्व का पोषण होता है, उसका कहाँ भान है ? मिथ्यात्व अनन्त संसार के परिभ्रमण का कारण है, उसके अभाव की दरकार भी नहीं करते हैं। अन्दर में सूक्ष्म मिथ्यात्वसहित बाह्य त्याग करके जीव नौवें ग्रैवेयक तक गया है और चार गतियों में परिभ्रमण किया है। देखो, नौवें ग्रैवेयक जानेवाले की व्यवहारश्रद्धा तो सही होती है। अभी के बहुत से लोगों में तो वैसी नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है तो फिर धर्म का मार्ग तो अन्दर की परमार्थश्रद्धा में है, उसकी तो बात ही क्या है ?

जीव और अजीव की प्रति समय की स्वतन्त्रता स्वीकार करके सात तत्त्वों को जाननेवाले को तो व्यवहार सम्यग्दर्शन हुआ और विकल्परहित होकर अन्तर में अभेद चैतन्यतत्त्व का अनुभव और प्रतीति करे, तब परमार्थ सम्यग्दर्शन होता है; वही आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य है। ● *[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 131-141 ]*

**आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य – ( 7 )**

# 27. सम्यग्दर्शन के लिए अपेक्षित भूमिका

जिसे निज आत्मा का हित करना हो, उसे पहले क्या करना चाहिए ? – यह बात चल रही है। जो आत्मार्थी है; अर्थात्, जिसे अपना कल्याण करने की भावना है, उसे देह से भिन्न चैतन्यमूर्ति आत्मा कौन है ? उसे जानना चाहिए। आत्मा को जानने के लिए प्रथम, नव तत्त्वों का ज्ञान करना चाहिए। उन नव तत्त्वों में प्रथम, जीव और अजीव – ये दो जाति के तत्त्व अनादि-अनन्त हैं। किसी ने उन्हें बनाया नहीं है और उनका कभी नाश नहीं होता। जीव और अजीव, यह दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं और इन दो के सम्बन्ध से दोनों की अवस्था में सात तत्त्व होते हैं। आत्मा में अपनी योग्यता से पुण्य-पापादि सात प्रकार की अवस्था होती है और उसमें निमित्तरूप अजीव में भी सात प्रकार पड़ते हैं।

आत्मा, त्रिकाली चैतन्यवस्तु है परन्तु उसे भूलकर अवस्था में मिथ्यात्व और राग-द्वेष से अज्ञानी जीव अनादि काल से बँधा हुआ है। वह बन्धनभाव, आत्मा की योग्यता से है; किसी दूसरे ने उसे बन्धन नहीं कराया है। यदि जीव को वर्तमान अवस्था में

भाव-बन्धन न हो तो आनन्द का प्रगट अनुभव होना चाहिए, परन्तु आनन्द का प्रगट अनुभव नहीं है क्योंकि वह अपनी पर्याय में विकार के भावबन्धन से बँधा हुआ है। जैसे, स्फटिक के उज्ज्वल स्वच्छ स्वरूप में जो लाल-काली झाँई पड़ती है, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है परन्तु स्फटिक का विकार है, उपाधि है। इसी प्रकार जीव का स्वच्छ चैतन्यस्वभाव है, उसकी अवस्था में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह उसका मूलस्वरूप नहीं है; अपितु विकार है, बन्धन है।

विकारभाव, वह जीवबन्ध है और उसमें निमित्तरूप जड़कर्म है, वह अजीवबन्ध है; इस प्रकार जीव-अजीव दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न है। यदि पर निमित्त की अपेक्षा बिना अकेले आत्मा के स्वभाव से विकार हो, तब तो वह स्वभाव हो जाएगा और कभी भी उसका अभाव नहीं हो सकेगा, परन्तु विकार तो जीव की अवस्था की क्षणिक योग्यता है और उसमें द्रव्यकर्म निमित्तरूप हैं। निमित्त के लक्ष्य से विकार होता है परन्तु स्वभाव के लक्ष्य से विकार अथवा बन्धनभाव नहीं होता।

नौवाँ, मोक्षतत्त्व है। जीव की पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ-वीतराग आनन्ददशा, वह मोक्ष है। इस मोक्षरूप होने की योग्यता जीव की अवस्था में है और जड़कर्म का अभाव उसमें निमित्तरूप है। जीव में पवित्र मोक्षभाव प्रगट हुआ, वहाँ कर्म स्वयं स्वतः छूट गये। जीव और अजीव - ये दो त्रिकाली तत्त्व हैं, उन्हें तथा उनकी पर्याय में सात तत्त्वरूप परिणमन होता है उसे; इस प्रकार नव तत्त्वों को पहचानना चाहिए।



मोक्षरूप होने की योग्यता जीव की है और जड़कर्मों का छूट जाना, वह निमित्त है, वह अजीवमोक्ष है। इस प्रकार यहाँ प्रथम तो मोक्षतत्त्व की पहचान करायी गयी है। अन्तरस्वभाव के आश्रय से जीव की परिपूर्ण पवित्र अवस्था प्रगट हो, उसे मोक्ष कहते हैं तथा अजीव कर्म के अभावरूप पुद्गल की अवस्था को भी मोक्ष कहते हैं। मोक्षतत्त्व को जान लेनेमात्र से मोक्ष नहीं हो जाता, परन्तु मोक्ष इत्यादि नव तत्त्वों को जानने के पश्चात् उनका आश्रय छोड़कर, अन्तर के अभेदस्वभाव के आश्रय से मोक्षदशा प्रगट होती है।

इस प्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - इन नव तत्त्वों की पहचान करायी है। इन नव तत्त्वों को पहचानने का प्रयोजन क्या है ? नव तत्त्वों को पहचानकर अन्तर में अभेद चैतन्यमूर्ति स्वभाव का शुद्धनय से अनुभव करना ही प्रयोजन है और ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है, वह कल्याण का मूल है और वह मानव जीवन का महाकर्तव्य है।

देखो, अनन्त काल से कभी चैतन्य की समझ नहीं की है। अनादि काल से जीव, संसार में परिभ्रमण करता है, उसमें चैतन्य की समझ का रास्ता लिये बिना दूसरे बाह्य साधन किये हैं परन्तु संसारभ्रमण का अभाव नहीं हुआ है क्योंकि चैतन्य की समझ करना ही संसारभ्रमण के अभाव का उपाय है, वह उपाय करना रह गया है। इसलिए श्रीमद् राजचन्द्रजी 'क्या साधन बाकी रह गया..' - यह बतलाते हुए कहते हैं कि -

**यम-नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग-विराग अथाग लह्यो।**
**वनवास रह्यो मुख मौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियौ।**

**यह साधन बार अनन्त कियौ, तदपि कछु हाथ हजू न पर्यौ।**
**अब क्यों न विचारत है मन से, कछु और रहा उन साधन से॥**

यम, नियम, व्रत, तप, बाह्य त्याग, वैराग्य इत्यादि सब साधन किये, परन्तु चैतन्यस्वरूपी अपना आत्मा कौन है? उसकी समझरूप सच्चा साधन शेष रह गया है; इसलिए जीव का किञ्चित् भी कल्याण नहीं हुआ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य आत्माओं! आत्मा के अभेदस्वरूप का अनुभव करने से पूर्व बीच में नव तत्त्व की भेदरूप प्रतीति आये बिना नहीं रहती, परन्तु उस नव तत्त्व के भेदरूप विचार का ही आश्रय मानकर अटकना मत! नव तत्त्व के भेदरूप विचार के आश्रय में अटकने से सम्यक् आत्मा अनुभव में नहीं आता, परन्तु उस भेद का आश्रय छोड़कर, रागमिश्रित विचार का अभाव करके, अभेदस्वभाव सन्मुख होकर शुद्ध आत्मा का निर्विकल्प अनुभव और प्रतीति करने से सम्यक्श्रद्धा होती है। वह सम्यक्श्रद्धा ही आत्मा के कल्याण का उपाय है, उससे ही मोक्ष का दरवाजा खुलता है।

यदि अवस्था में जीव की योग्यता और अजीव का निमित्तपना – ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध न हो तो सात तत्त्व ही सिद्ध नहीं होते। जीव और अजीव की अवस्था में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उस दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व के भेद विद्यमान हैं और यदि अकेले चैतन्यमूर्ति अखण्ड जीवतत्त्व को लक्ष्य में लो तो द्रव्यदृष्टि में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं होने से नव तत्त्व के भेद नहीं पड़ते हैं; इसलिए शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक चैतन्य परम तत्त्व ही प्रकाशमान है।



यद्यपि वर्तमान निर्मलपर्याय है अवश्य, परन्तु वह अभेद में मिल जाती है; अर्थात्, उस जीव को द्रव्य और पर्याय के भेद का विकल्प नहीं है — ऐसा अनुभव ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, वही मोक्ष का मार्ग है। **अनुभव मारग मोक्ष का.... अनुभव है रसकूप।**

जीव के भावरूप सात तत्त्व जीव में हैं तथा उसमें निमित्तरूप जड़ की अवस्था में सात तत्त्व हैं, वह अजीव में हैं – ऐसे सात प्रकार अकेले शुद्ध जीव में अथवा अकेले अजीव में नहीं होते हैं। इन नव तत्त्वों का बहुत-बहुत प्रकार से वर्णन कहा गया है, तद्नुसार नव तत्त्वों का निर्णय किये बिना आत्मा का स्वरूप नहीं समझा जा सकता और अपना स्वरूप क्या है? – यह समझे बिना चैतन्य सुख की प्राप्ति नहीं होती है।

अमूल्य तत्त्व विचार में श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि –

**मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?**
**सम्बन्ध दुखमय कौन हैं? स्वीकृत करूँ परिहार क्या॥**
**इसका विचार विवेकपूर्वक, शान्त होकर कीजिए।**
**तो सर्व आत्मिकज्ञान के, सिद्धान्त का रस पीजिए॥**

इसमें जीव के स्वरूप का विचार करके निर्णय करने को कहा है। जीव सम्बन्धी विचार करने पर उसमें नव तत्त्व के विचार आ जाते हैं। मैं, चैतन्यस्वरूप जीव हूँ; शरीरादि, अजीव हैं; वे मैं नहीं हूँ। पुण्य-पाप आस्रव और बन्धभाव, दुःखरूप हैं; संवर-निर्जराभाव, सुख का कारण हैं और धर्म हैं। मोक्ष, पूर्ण सुखरूप निर्मलदशा है; इस प्रकार एक जीव सम्बन्धी विचार करने पर उसमें नव तत्त्व आ

जाते हैं। जीव और अजीव तो स्वतन्त्र तत्त्व हैं और उसमें से जीव की अवस्था में पुण्य-पाप-आस्रव-संवर-निर्जरा-बन्ध और मोक्ष - ऐसे सात प्रकार अपनी योग्यता से पड़ते हैं तथा अजीवतत्त्व उसमें निमित्तरूप है। अजीव की अवस्था में भी पुण्य-पाप आदि सात प्रकार पड़ते हैं।

एक आत्मा ही सर्व व्यापक है और दूसरा सब भ्रम - ऐसा माननेवाले की मान्यता में सात तत्त्व नहीं रहते हैं और सात तत्त्व के ज्ञान बिना आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता है। सातों तत्त्वों में दो -दो बोल लागू पड़ते हैं - एक जीवरूप है दूसरा अजीवरूप है। देखो, आत्मा को समझे बिना जीव का अनन्त काल व्यतीत हुआ है, उस अनन्त काल में दूसरे बाह्य उपायों को कल्याण का साधन माना है परन्तु अन्तर में सिद्ध भगवान जैसा चैतन्यमूर्ति आत्मा विराज रहा है, उसका शरण लूँ तो कल्याण प्रगट होगा — ऐसा नहीं माना है। जीव ने अज्ञानभावसहित पूजा-भक्ति, व्रत-उपवास इत्यादि के शुभराग और क्रियाकाण्ड को मुक्ति का साधन माना है परन्तु वह समस्त राग तो संसार का कारण है; आत्मा की मुक्ति का कारण नहीं है। इस प्रकार समझकर क्या करना चाहिए? यही कि नव तत्त्वों के और आत्मा के अभेदस्वरूप को जानकर, आत्मस्वभाव के सन्मुख होना चाहिए। उसका आश्रय करना ही धर्म है और वही कल्याण है।

जो जीव, विषय-कषाय में ही डूबा हुआ है और जिसे तत्त्व के विचार का अवकाश भी नहीं है, वह तो पाप में पड़ा हुआ है, उसकी यहाँ बात नहीं है। मुझे आत्मा का कल्याण करना है, जिसे ऐसी जिज्ञासा जागृत हुई है, विषय-कषायों से कुछ परान्मुख होकर



जो नव तत्त्व का विचार करता है और अन्तर में आत्मा का अनुभव करना चाहता है, यह उसकी बात है।

नव तत्त्व का विचार पञ्चेन्द्रियों का विषय नहीं है। पाँच इन्द्रियों के अवलम्बन से नव तत्त्व का निर्णय नहीं होता; इसलिए नव तत्त्व का विचार करनेवाला जीव, पाँच इन्द्रियों के विषयों से तो परान्मुख हो गया है; यद्यपि अभी मन का अवलम्बन है परन्तु वह जीव मन के अवलम्बन में अटकना नहीं चाहता है; वह तो मन अवलम्बन भी छोड़कर, अभेद आत्मा का अनुभव करना चाहता है। स्वलक्ष्य से राग का नकार और स्वभाव का आदर करनेवाला जो भाव है, वह निमित्त और राग की अपेक्षारहित भाव है। उसमें भेद के अवलम्बन की रुचि छोड़कर अभेदस्वभाव का अनुभव करने की रुचि का जो जोर है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन का कारण होता है। वह रुचि अन्तर में तीव्र वैराग्यसहित है।

कोई पूछता है कि नव तत्त्व के विचार तो पूर्व में अनन्त बार किये हैं? तो उससे कहते हैं कि भाई! पूर्व में जो नव तत्त्व के विचार किये हैं, उसकी अपेक्षा यह कोई अलग प्रकार की बात है। पूर्व में नव तत्त्व के विचार किये थे, वे अभेदस्वरूप के लक्ष्य बिना किये थे और यहाँ तो अभेदस्वरूप के लक्ष्यसहित की बात है।

पूर्व में अकेले मन के स्थूल विषय से नव तत्त्व के विचार तक तो आत्मा अनन्त बार आया है परन्तु वहाँ से आगे बढ़कर, विकल्प तोड़कर, ध्रुव-चैतन्यतत्त्व में एकपने की श्रद्धा करने की अपूर्व विधि क्या है? - यह नहीं समझा; इसलिए भवभ्रमण खड़ा रहा है परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं ली गयी है। यहाँ तो अपूर्व शैली का

कथन है कि आत्मा का अनुभव करने के लिए जो जीव नव तत्त्व के विचार तक आया है, वह नव तत्त्व का विकल्प तोड़कर, उसमें से शुद्ध आत्मा को शोधकर, अभेद आत्मा का अनुभव करता ही है। नव तत्त्व के विचार तक आकर वापस फिर जाए – ऐसी बात यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो अफरगामी मुमुक्षु की ही बात है।

निश्चय के अनुभव में तो नव तत्त्व इत्यादि व्यवहार अभूतार्थ हैं परन्तु निश्चय का अनुभव प्रगट करने की पात्रतावाले जीव को ऐसा ही व्यवहार होता है; इससे विरुद्ध दूसरा व्यवहार नहीं होता। व्यवहार को सर्वथा अभूतार्थ गिनकर उसमें गड़बड़ करे और तत्त्व का निर्णय न करे, वह तो अभी परमार्थ के आँगन में भी नहीं आया है। कुतत्त्वों की मान्यता तो परमार्थ का आँगन नहीं भी है, सच्चे तत्त्व की मान्यता ही परमार्थ का आँगन है। जैसे, किसी को सज्जन के घर में जाना हो और दुर्जन के आँगन में जाकर खड़ा रहे तो वह सज्जन के घर में प्रवेश नहीं कर सकता, परन्तु यदि सज्जन के घर के आँगन में ही खड़ा हो तो वह सज्जन के घर में प्रवेश कर सकता है। इसी प्रकार सज्जन अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु द्वारा कथित चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा का अनुभव करने के लिए सर्वज्ञदेव द्वारा कथित नव तत्त्व इत्यादि का निर्णय करना, वह प्रथम अनुभव का आँगन है; जो उसका निर्णय नहीं करते और दूसरे कुतत्त्वों को मानते हैं, वे तो अभी सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित आत्मस्वभाव के अनुभवरूप आँगन में भी नहीं आये हैं; अत: उन्हें अनुभवरूपी घर में तो प्रवेश होगा ही कैसे?

पहले, रागमिश्रित विचार से नव तत्त्व इत्यादि का निर्णय करने के पश्चात् ज्ञायकस्वभाव की तरफ ढलकर अनुभव करने पर वह



सब भेद अभूतार्थ हो जाते हैं। अभूतार्थ किसलिये कहे हैं? क्योंकि परमार्थ आत्मा के अनुभव के विषय में वे नहीं आते हैं।

सच्चे नव तत्त्व की पहचान में सुदेव-गुरु-शास्त्र की और कुदेव आदि की पहचान आ ही जाती है। आस्रव और बन्धतत्त्व की पहचान में कुदेवादि की पहचान आ जाती है। नव तत्त्व के स्वरूप को विपरीतरूप से साधनेवाले सभी कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र हैं। संवर और निर्जरा भाव, वह निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है, साधकभाव है। आचार्य, उपाध्याय और साधु – वे गुरु हैं, उनका तथा ज्ञानी-धर्मात्माओं का स्वरूप संवर-निर्जरा में आ जाता है। मोक्ष, आत्मा की पूर्ण निर्मलदशा है। अरिहन्त और सिद्ध परमात्मा, वीतराग सर्वज्ञदेव हैं; उनका स्वरूप मोक्षतत्त्व में आ जाता है। इस प्रकार नव तत्त्व में पाँच परमेष्ठी इत्यादि का स्वरूप भी आ जाता है। नव तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थ आ जाते हैं क्योंकि जगत् में नव तत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। इस प्रकार तत्त्वों के निर्णय का विचार सम्यग्दर्शन का कारण है।

यहाँ कहा गया व्यवहार, वह सम्यग्दर्शन का आँगन है। कुदेवादिक के आँगन में खड़ा हो तो वह अन्तर आत्मा के घर में प्रवेश नहीं कर सकता। आत्मा के घर में प्रवेश करनेवाले को नव तत्त्व की श्रद्धारूप आँगन बीच में आता है। जिस प्रकार दुर्जन के आँगन में खड़ा हुआ व्यक्ति, सज्जन के घर में प्रवेश नहीं कर सकता, परन्तु सज्जन के आँगन में खड़ा हुआ ही सज्जन के घर में प्रवेश कर सकता है; इस प्रकार आँगन की भी उस प्रकार की योग्यता होती है। इसी प्रकार आत्मा के अनुभव में जाने के लिए

नव तत्त्वरूप आँगन समझना चाहिए। खड़ा हो पुद्गल के आँगन में और कहे कि मुझे भूतार्थस्वभाव के घर में प्रवेश करना है तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। स्वभाव के घर में जाने के लिए आँगन भी उसके योग्य ही होता है; विरुद्ध नहीं होता है।

यहाँ आचार्यदेव ने परमार्थ आत्मा के अनुभव के निमित्तरूप नव तत्त्व के विकल्परूप व्यवहार का वर्णन किया है। यह निमित्त तो अपनी पर्याय में ही है; अनुभव के पहले बीच में ऐसी पर्याय हुए बिना नहीं रहती और सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप जो पञ्चेन्द्रियपना, देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि का वर्णन आता है, वह तो बाह्य संयोगरूप निमित्त है; वे तो स्वयं होते हैं और यह नव तत्त्व की श्रद्धारूप व्यवहार तो अपने अन्तर में उस प्रकार के प्रयत्न से होता है। इसलिए इस अध्यात्म ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के निमित्तरूप उसकी ही बात की गयी है। अहो! इस समयसार में अत्यन्त गहनता भरी हुई है।

अब, नव तत्त्वों को जानकर, परमार्थ सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए क्या करना चाहिए? इस विषय में आचार्यदेव विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। पहले सामान्यरूप से बात की थी, अब उस बात को विशेषरूप से समझाते हैं।

'बाह्य अर्थात् स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो - जीव-पुद्गल की अनादि बन्धपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर यह नव तत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ है अर्थात् वे जीव के एकाकार स्वरूप में नहीं हैं; इसलिए इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।' अज्ञानी को,



नव तत्त्व में जीव और अजीव एक होकर परिणमित होते हैं - ऐसा स्थूलदृष्टि से लगता है परन्तु ज्ञानी तो, नव तत्त्वों में जीव और अजीव का पृथक्-पृथक् परिणमन है - यह जानता है। ज्ञानी, अन्तर्दृष्टि से जीव-अजीव को अलग-अलग परिणमता हुआ देखता है, यह बात आगे आयेगी।

जिसे जीव-अजीव का भेदज्ञान नहीं है - ऐसा अज्ञानी जीव नव तत्त्व के विकल्प से जीव-पुद्गल की बन्धपर्याय के समीप जाकर अनुभव करता है। अखण्ड चिदानन्दतत्त्व की एकता को चूककर बाह्य संयोग को देखता है। बाह्यलक्ष्य से आत्मा और कर्म की अवस्था को एकरूप अनुभव करने पर तो नव तत्त्व भूतार्थ है, विद्यमान है। व्यवहारनय से देखने पर पर्याय में नव तत्त्व के विकल्प होते हैं परन्तु जिसे अकेले नव तत्त्व का भूतार्थपना ही भासित होता है और एकरूप चैतन्यस्वभाव का भूतार्थपना भासित नहीं होता, वह मिथ्यादृष्टि है।

जीव-पुद्गल के सम्बन्ध का लक्ष्य छोड़कर, अकेले शुद्ध जीवतत्त्व को ही लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर अकेला भगवान आत्मा शुद्ध ही जीवरूप से प्रकाशमान है और नव तत्त्व अभूतार्थ हैं - ऐसा अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। अभेद आत्मा की श्रद्धा करने से पूर्व; अर्थात्, धर्म की पहली दशा होने से पहले जिज्ञासु जीव को नव तत्त्व का ज्ञान निमित्तरूप से होता है। नव तत्त्व सर्वथा है ही नहीं - ऐसा नहीं है।

आत्मा और कर्म के सम्बन्ध से होनेवाले नव तत्त्वों की दृष्टि छोड़कर अकेले ज्ञायक की दृष्टि से स्वभाव सन्मुख जाकर अनुभव

करना, वह सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार अकेले पानी के प्रवाह में भङ्ग नहीं पड़ता, किन्तु बीच में नाले के निमित्त से उसके प्रवाह में भङ्ग पड़ता है; उसी प्रकार यदि कर्म के साथ के सम्बन्ध के लक्ष्य से जीव का विचार करो तो नव तत्त्व के भेद विचार में आते हैं परन्तु उस निमित्त का लक्ष्य छोड़कर अकेले चैतन्य प्रवाह को ही दृष्टि में लो तो उसमें भङ्ग-भेद नहीं पड़ते हैं, वह एक ही प्रकार का अनुभव में आता है।

जैसे, अकेले पानी में मीठा-खट्टा अथवा खारा - ऐसे भेद नहीं पड़ते। मीठे, खट्टे अथवा खारेरूप जो भेद पड़ते हैं, वह शक्कर, नींबू अथवा नमक इत्यादि परनिमित्त के सङ्ग की अपेक्षा से पड़ते हैं। निमित्त के सङ्ग की अपेक्षा से देखने पर पानी में वे भेद भूतार्थ हैं परन्तु अकेले पानी के स्वभाव को देखने पर उसमें मीठा, खट्टा अथवा खारा आदि भेद नहीं पड़ते; इसलिए वे भेद अभूतार्थ हैं। इसी प्रकार आत्मा को अकेले स्वभाव से देखने पर तो उसमें भेद नहीं हैं परन्तु जड़कर्म के संयोग की अपेक्षा से देखने पर आत्मा की पर्याय में बन्ध-मोक्ष इत्यादि सात प्रकार पड़ते हैं। पर्यायदृष्टि से वे भेद भूतार्थ हैं और यदि अकेले आत्मा के त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से अनुभव किया जाए तो उसमें बन्ध-मोक्ष इत्यादि सात प्रकार नहीं पड़ते हैं; इसलिए वे अभूतार्थ हैं। इस प्रकार स्वभावदृष्टि से तो नव तत्त्वों में एक भूतार्थ जीव ही प्रकाशमान है, उसमें एक अभेद जीव का ही अनुभव है और वही परमार्थ सम्यग्दर्शन का विषय है।

भाई! यह समझे बिना जीव ने अनन्त काल में जो कुछ किया है, उससे संसार-परिभ्रमण ही हुआ है और एक भी भव कम नहीं



हुआ है। यह अपूर्व समझ करना ही भव-भ्रमण से बचने का एकमात्र उपाय है।

नव तत्त्व कहाँ रहते हैं? जीव और अजीव तो स्वतन्त्र तत्त्व हैं और उनके सम्बन्ध से सात तत्त्व होते हैं, उनमें जीव के सात तत्त्व, जीव की अवस्था में रहते हैं और अजीव के सात तत्त्व, अजीव की अवस्था में रहते हैं। अज्ञानी को उन दोनों की भिन्नता का भान नहीं है; इसलिए मानो कि जीव और अजीव दोनों एक होकर परिणमते हों - ऐसा उसे लगता है। अज्ञानी, भिन्न अखण्ड चैतन्यतत्त्व को चूककर जड़ और चेतन को एक मानता है और इस कारण पर्यायबुद्धि में वह नव तत्त्वों को ही भूतार्थरूप से अनादि से अनुभव कर रहा है परन्तु स्वभावसन्मुख ढलकर एकरूप स्वभाव का अनुभव नहीं करता है।

मुक्तस्वभाव की दृष्टि से तो आत्मा एकरूप है, उसमें नव तत्त्वों के भेद नहीं हैं परन्तु बाह्य संयोगीदृष्टि से, वर्तमान दृष्टि से देखो तो नव तत्त्व भूतार्थ दिखलाई देते हैं और यदि वर्तमान पर्याय को स्वभाव में एकाग्र करके वर्तमान में स्वभाव को देखो तो नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और अकेला ज्ञायक आत्मा ही भूतार्थरूप से अनुभव में आता है। वहाँ यद्यपि संवर-निर्जरारूप परिणमन तो है परन्तु वह पर्याय अभेद अनुभव में समा गयी है।

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि अखण्ड ज्ञायकवस्तु की दृष्टि से तो आत्मा में एकपना ही है और उसके आश्रय से एकपने की ही उत्पत्ति होती है। यद्यपि पर्याय में निर्मलता के प्रकार पड़ते हैं परन्तु वह पर्याय अभेद आत्मा में ही एकाग्र होती है; इसलिए अभेद आत्मा का ही अनुभव है।

अज्ञानी को जड़-चेतन की एकत्वबुद्धि से अनादि से नव तत्त्व पर ही दृष्टि है। जड़ के संग से भिन्न अकेले चैतन्यतत्त्व का उसे पता नहीं है। अहो! मुझमें अनन्त गुण होने पर भी मैं अभेदस्वभावी एक वस्तु हूँ, ज्ञायकस्वरूप हूँ – ऐसा अनुभव करना, वह परमार्थ सम्यग्दर्शन है। अभेद आत्मा के अनुभव में 'मैं ज्ञान हूँ' – ऐसे गुणभेद के विकल्पों को भी अवकाश नहीं है तो फिर नव तत्त्व के विकल्प होंगे ही कैसे? जो अभी नव तत्त्वों को भी नहीं मानता, उसे तो व्यवहारधर्म भी नहीं होता तथा पर-संयोग के समीप जाकर नव तत्त्वों को भूतार्थरूप से अनुभव करना; अर्थात्, एक जीव, तत्त्व को नव तत्त्वरूप अनुभव करना भी अभी सम्यग्दर्शन नहीं है।

सम्यग्दर्शन किस प्रकार है? – वह कहते हैं। अन्तर में चैतन्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक परमपारिणामिक ज्ञायक आत्मा ही भूतार्थरूप अनुभव में आता है – ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है। अभेदस्वभाव की प्रधानता से आत्मा का अनुभव करने पर, वह ज्ञायकमूर्ति भगवान तो एक ही है; एकपना छोड़कर वह नव प्रकाररूप नहीं हुआ है।

अहो! ऐसी सरस बात! पात्र होकर समझे तो निहाल हो जाए – ऐसी बात है। पहले सत्समागम में यह बात कान में पड़ने के पश्चात् अन्तर में विचार करके निर्णय करनेवाले को अनुभव होता है। जहाँ मुख्यता चैतन्यस्वरूप की हुई है, वहाँ अभेद चैतन्य ही दृष्टि में रहता है। नव भेद का विकल्प आता है, उसकी मुख्यता नहीं होती; इसलिए वह अभूतार्थ है। मैं अर्थात् जीव चैतन्य परिपूर्ण हूँ, एकरूप हूँ, ऐसे स्वभाव की दृष्टि में एकता की ही मुख्यता है और उसमें नव तत्त्व की अनेकता गौण हो जाती है; इसलिए शुद्धनय में नव तत्त्व अभूतार्थ हैं।



आत्मा के अभेदस्वभाव की दृष्टि छोड़कर, पर्याय में परसङ्ग की अपेक्षा से देखने पर नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु जहाँ शुद्धनय से भेद का लक्ष्य छूटकर, अभेदस्वभाव की मुख्यता में ढलता है, वहाँ भेदरूप नव तत्त्वों का अनुभव नहीं है; इसलिए वे अभूतार्थ हैं और एक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थरूप से प्रकाशमान है। ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, उस सम्यग्दर्शन के पश्चात् धर्मी को नव तत्त्व के विकल्प आते हैं परन्तु उनकी शुद्धदृष्टि में उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, एकाकार चैतन्य की ही मुख्यता है; इसलिए वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। 'अभूतार्थ' कहने से उन नव तत्त्वों के विकल्प, अभेदस्वभाव की दृष्टि में उत्पन्न ही नहीं होते – यह आशय है।

देखो तो सही, आत्मा की कैसी सरस बात है! यह कोई बाहर की बात नहीं है किन्तु अन्तर में अपने आत्मा की ही बात है। भाई! तुझे सुख और शान्ति चाहिए न? तो तू उसकी शोध कहाँ करेगा? कहीं बाहर में देव-शास्त्र-गुरु अथवा स्त्री, लक्ष्मी, शरीर इत्यादि में सुख-शान्ति शोधने से वह प्राप्त नहीं हो सकती। वीतरागी देव-गुरु तो कहते हैं कि हे भाई! तुझे सुख-शान्ति चाहिए हो, सम्यग्दर्शन चाहिए हो, सत्य चाहिए हो, साक्षात् आत्मसाक्षात्कार चाहिए हो तो नित्य चिदानन्दस्वभाव में ही उसे शोध! अन्तर स्वभाव में शोधने से ही वह प्राप्त होने योग्य है। सत्समागम से नव तत्त्वों को जानकर, अन्तरङ्ग में भूतार्थ चैतन्यस्वभाव के समीप

जाकर अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन, सुख-शान्ति, सत्य और आत्मसाक्षात्कार होता है।

नव तत्त्व में पहला जीवतत्त्व कितना है? सिद्धभगवान के आत्मा जितना। जितना सिद्धभगवान का आत्मा है, उतना ही प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है। '**सिद्ध समान सदा पद मेरो**' अर्थात्, मेरा आत्मस्वरूप सदा ही सिद्ध समान है। ऐसा आत्मा, वह सम्यग्दर्शन का विषय है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन अपने आत्मा को वैसा स्वीकार करता है।

सम्यग्दर्शन होने पर अपने सिद्धसमान आत्मा का संवेदन होता है, अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन का विषय अकेला आत्मा है, नव तत्त्व के भेद, सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। नव तत्त्वों के विचार तो सम्यग्दर्शन के लिए वारदान है। वारदान से माल का अनुमान होता है कि इसे कैसा माल लेना है?

जिस प्रकार कोई फटा-टूटा काला थैला लेकर बाजार जा रहा हो तो अनुमान होता है कि यह मनुष्य कोई केसर लेने नहीं ला रहा, किन्तु कोयला लेने जा रहा होगा और कोई अच्छी काँच की बरनी लेकर बाजार में जाता हो तो अनुमान होता है कि यह मनुष्य कोयले लेने नहीं जा रहा, किन्तु केसर आदि उत्तम वस्तु लेने जा रहा है। इसी प्रकार जो जीव, कुदेव-कुगुरु का पोषण कर रहा है; अर्थात्, जिसे वारदान के रूप में ही काले थैले के समान कुदेव-कुगुरु हैं तो अनुमान होता है कि वह जीव, आत्मा का धर्म लेने के लिए नहीं निकला है परन्तु विषय-कषाय का पोषण करने के लिए निकला है। जिसके पास नव तत्त्व की श्रद्धारूप वारदान नहीं है तो ऐसा समझना चाहिए कि वह जीव, आत्मा की श्रद्धारूपी केसर लेने



के लिए नहीं निकला है परन्तु संसार भ्रमणरूप कोयला लेने निकला है।

जो जीव, शुद्ध आत्मा की श्रद्धारूपी माल लेने निकला हो, उसके पास सच्चे देव-गुरु के द्वारा कथित नव तत्त्वों की श्रद्धा ही वारदानरूप से होती है। पहले तत्त्वों का स्वीकार करने के पश्चात् उनके भेद का लक्ष्य छोड़कर, शुद्धनय के अवलम्बन से अभेद आत्मा का अनुभव करने से धर्म प्रगट होता है। जो कुतत्त्वों को मानता है और जिसे नव तत्त्वों का भान नहीं है, उसे तो चैतन्य का अनुभव होता ही नहीं।

जो जीव, शरीर की क्रिया से अथवा शुभविकल्पों से धर्म मनवाता है, वह फटा हुआ वारदान लेकर माल लेने निकला है। उसके फटे हुए थैले में सम्यग्दर्शनरूपी माल नहीं रहता है। अभी तो जीव और शरीर एकत्रित होकर बोलने इत्यादि का कार्य करते हैं, जो ऐसा मानता है कि उसने तो व्यवहार नव तत्त्वों को भी नहीं जाना है; उसे तो यथार्थ पुण्य की प्राप्ति भी नहीं होती तथा यदि नव तत्त्व के विचार में ही अटका रहे तो वह भी मात्र पुण्यबन्ध में अटक रहा है; उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होती। नव तत्त्व को मानने के पश्चात् अभेद एक चैतन्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करनेवाले को अपूर्व धर्म प्रगट होता है और उसके लिए मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

यहाँ तो जो नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा तक आया है, ऐसे शिष्य को परमार्थ सम्यग्दर्शन कराने के लिए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि तू चैतन्य जो वस्तुस्वभाव की अन्तर्दृष्टि कर! एकरूप चैतन्य की दृष्टि में नव तत्त्व के भङ्ग-भेद का विकल्प खड़ा

नहीं होता, परन्तु एक शुद्ध चैतन्य आत्मा ही अनुभव में आता है – इसका नाम सम्यग्दर्शन है, इसी का नाम आत्मसाक्षात्कार है और यही धर्म की पहली भूमिका है।

अभेदस्वभाव की दृष्टि से देखने पर नव तत्त्व नहीं दिखते हैं परन्तु एक आत्मा ही शुद्धरूप से दिखाई देता है; इसलिए भूतार्थनय से देखने पर नव तत्त्वों में एक शुद्ध जीव ही प्रकाशमान है और वही सम्यग्दर्शन का ध्येय है। व्यवहारदृष्टि में नव तत्त्व हैं परन्तु स्वभावदृष्टि में नव तत्त्व नहीं हैं। स्वभावदृष्टि से ऐसा अनुभव करना ही धर्म है, मानव जीवन में यही मुमुक्षु का कर्तव्य है।●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 142-156 ]*

## सहज अद्भुत शान्त मुनिदशा

मुनिराज को देह में भी उपशमरस बरसता है, शरीर भी शान्त... शान्त... शान्त। अरे! वचन में भी कहीं चपलता अथवा चञ्चलता दिखाई नहीं देती – ऐसे शान्त होते हैं। उन मुनिराज को निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनको देह की नग्नदशा निमित्तरूप होती ही है परन्तु वह अथवा पञ्च महाव्रत के शुभविकल्प भी चारित्र नहीं हैं, उनसे मोक्ष नहीं है; मोक्ष तो अन्दर शुद्धात्मद्रव्यसामान्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होनेवाली स्वरूप स्थिरता से ही होता है। वह स्वरूप स्थिरता उस मुनिदशा में है। अन्तरङ्ग में प्रगट होनेवाली वह सहज मुनिदशा अद्भुत है। मुनिराज की मुद्रा भी शान्तरस से नितरती होती है। अहा! ऐसी बात है। *( -वचनामृत प्रवचन, भाग 4, पृष्ठ 197 )*

**आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य – ( 8 )**

नव तत्त्व के ज्ञान का प्रयोजन

# 28. निज शुद्धात्मा का अनुभव

जो जीव, निवृत्ति लेकर जिज्ञासुभाव से सत्–समागम में यथार्थ बात का श्रवण भी नहीं करता, वह जीव अन्तर धारणा करके तत्त्व का निर्णय कैसे करेगा और तत्त्वनिर्णय के बिना निःसन्देह होकर आत्मवीर्य अन्तर–अनुभव में कैसे लगेगा? इसलिए मुमुक्षु को जिज्ञासुभाव से सत्–समागम में वैराग्यपरिणतिपूर्वक तत्त्वनिर्णय करके अनुभव का प्रयत्न करना चाहिए।

जीव, धर्म तो करना चाहते हैं परन्तु आत्मा को धर्म किस प्रकार हो? यह बात अनन्त काल से यथार्थरूप से समझ में नहीं आयी है। यदि एक सैकेण्ड भी आत्मा की समझ करे तो यह संसार–परिभ्रमण नहीं रह सकता है। परिभ्रमण के प्रबल कारणरूप आत्मभ्रान्ति है, उस आत्मभ्रान्ति के अभाव का वास्तविक उपाय क्या है? – यह जीव ने कभी नहीं जाना है। आत्मभ्रान्ति को मिथ्यात्व कहते हैं, उस मिथ्यात्व का अभाव कैसे हो; अर्थात्, सम्यग्दर्शन कैसे हो? इस बात को कभी नहीं जाना है। अरे! समकिती आत्मज्ञ सन्तों की उपासना भी सच्चे भाव से कभी नहीं

की है। नव तत्त्वों को सम्यक् अन्तरभान से जानने पर, आत्मभ्रान्ति मिटकर सम्यग्दर्शन होता है और जीव को धर्म का प्रारम्भ होता है – ऐसा यहाँ आचार्यदेव बतलाते हैं।

जीव ने आत्मा की दरकार करके धर्म की यह विधि अनन्त काल से नहीं जानी है; इसलिए कठिन लगती है, तो भी आत्मा के हित के लिए ध्यान रखकर समझना चाहिए,क्योंकि इसके अतिरिक्त आत्महित की दूसरी कोई विधि नहीं है। यदि रुचिपूर्वक समझना चाहे तो यह विधि, सहज है।

आत्मा में त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था – ऐसे दो पहलू हैं। त्रिकालस्वभाव एकरूप है और अवस्था में अनेक प्रकार हैं। उसमें त्रिकाली एकरूप स्वभाव की दृष्टि छोड़कर बाह्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नव तत्त्वों के विकल्प विद्यमान हैं। 'मैं जीव हूँ; शरीरादि अजीव हैं; दयादि के परिणाम, पुण्य हैं; हिंसादि के परिणाम, पाप हैं; पुण्य-पाप, दोनों आस्रव हैं; सम्यक्त्वादि के द्वारा उस आस्रव का रुकना संवर है; कर्म का खिरना, निर्जरा है; मिथ्यात्वादि भाव, बन्धन हैं और पूर्ण शुद्धता होने पर कर्मों का अत्यन्त नाश, वह मोक्ष है।' – ऐसे नव तत्त्वों का रागमिश्रित विचार से निर्णय करने पर, वे नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु एकरूप ज्ञायक आत्मा का अनुभव करने के लिए तो यह विकल्परूप नव तत्त्व छोड़ने योग्य हैं। अकेले नव तत्त्वों की रागमिश्रित श्रद्धा भी अभी सम्यक्त्व नहीं है।

**प्रश्न** – इन नव तत्त्वों में ज्ञेय, हेय और उपादेय कौन-कौन तत्त्व हैं?



**उत्तर** – जाननेयोग्य तो सभी हैं; अर्थात्, नव तत्त्व तो ज्ञेय हैं। यहाँ नव तत्त्व विकल्परूप लिये हैं; इसलिए वे नव तत्त्व हेय हैं। नव तत्त्व के विकल्परहित एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। जहाँ पर्याय अपेक्षा से कथन हो, वहाँ पुण्य-पाप, आस्रव-बन्ध को हेय और संवर-निर्जरा; मोक्ष को उपादेय कहते हैं परन्तु द्रव्यदृष्टि में तो नव तत्त्व, हेय हैं। द्रव्यदृष्टि में नव तत्त्व के भेद नहीं हैं, अकेला शुद्ध आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है। उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। नव तत्त्व, अभूतार्थ हैं, उनके आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, किन्तु राग ही होता है; इसलिए यहाँ नव तत्त्वों को हेय कहा गया है। नव तत्त्वों का रागमिश्रित अनुभव, वह आत्मधर्म नहीं है; अन्तर्मुख स्वभाव में ढलने पर परिपूर्ण एक आत्मा ही प्रतीति में आवे और आत्मभङ्ग न हो, वही सम्यग्दर्शन धर्म है।

नव तत्त्वों को ज्यों का त्यों मानें, 'मेरा स्वभाव सिद्ध समान है' – ऐसा माने तो विकल्प से जीवतत्त्व को माना कहा जाए; शरीर का काम, शरीर से होता है; आत्मा उसे नहीं करता – ऐसा माने तो रागमिश्रित विकल्प से अजीव को माना कहा जाए; पुण्यभाव क्षणिक विकार है, वह धर्म नहीं है; जीव का धर्म, जीव के आश्रय से होता है, अजीव की क्रिया से जीव को धर्म नहीं होता। इस प्रकार जीव -अजीव की भिन्नता जानकर, नव तत्त्वों को यथार्थ जानना भी अभी दर्शनशुद्धि होने के पूर्व की भूमिका है परन्तु यह नव तत्त्व के विकल्पमिश्रित विचार अभूतार्थ हैं। साधक को वह विकल्प आता है परन्तु उसे उसकी मुख्यता नहीं है। मुख्यता तो शुद्ध चैतन्य की ही है, उसके आधार से ही साधकदशा है।

अनन्त गुणों का पिण्ड जो आत्मा है, उसकी दृष्टि में नव तत्त्वों के विकल्पों का अभाव है। तात्पर्य यह है कि धर्मात्मा की दृष्टि में एकरूप चैतन्यतत्त्व की ही अस्ति है – ऐसी दृष्टि ही दर्शनविशुद्धि है और वही प्रथम धर्म है।

पहले तो बाह्य स्थूल दृष्टि से देखने पर नव तत्त्वों को भूतार्थ कहा और अन्तरस्वभाव के समीप जाकर शुद्ध जीव का अनुभव करने पर उन नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहा है – ऐसा अनुभव करना, वह दर्शनविशुद्धि है।

अब, इसी बात को दूसरी शैली से कहते हैं।

*'इसी प्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञायकभाव, जीव है और जीव के विकार का हेतु, अजीव है और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष जिनके लक्षण हैं – ऐसे केवल जीव के विकार हैं और पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध तथा मोक्ष – ये विकार के हेतु, केवल अजीव हैं। ऐसे यह नव तत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर, स्वयं और पर जिनके कारण हैं – ऐसे एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं और सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं – असत्यार्थ हैं; इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है।'*

पहले, अज्ञानी के नव तत्त्व की बात थी, उसमें जीव और पुद्गल के संयोग से देखने का कथन था। यहाँ ज्ञानी के नव तत्त्व के विकल्प की बात है, उसमें जीव और अजीव, दोनों स्वतन्त्र द्रव्य हैं तथा जीव और अजीव दोनों में अलग-अलग सात तत्त्व हैं



– यह बात ली है। अन्तरस्वभाव की दृष्टि से देखें तो एक ज्ञायकभाव ही भूतार्थ है और नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। यह समझे बिना बाहर के सब भाव तो रण में पीठ दिखाने के समान है, उससे जीव को किञ्चित् धर्म नहीं होता। बाहर के भाव, जीव को किञ्चित्मात्र शरणरूप नहीं होते हैं।

अभेदरूप ज्ञायक आत्मा, वह अन्तरतत्त्व है, उसे अन्तर में नहीं देखकर, मात्र वर्तमान क्षणिकअवस्था का ही विचार करने को बहिर्दृष्टि कहते हैं। जैसे, सम्पूर्ण हीरे के अन्तर सत्व को देखना, वह अन्तर्दृष्टि है और उसके क्षणिक दाग को देखना, वह बहिर्दृष्टि है। इसी प्रकार आत्मा में त्रिकाली ज्ञायक अन्तरस्वभाव देखना, वह अन्तर्दृष्टि है और क्षणिक विकारी प्रगट पर्याय को ही लक्ष्य में लेकर, उसके विचार में रुकना, वह बहिर्दृष्टि है। उस बहिर्दृष्टि में भेदरूप नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु अन्तरस्वभाव की दृष्टि में वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक ज्ञायक भगवान आत्मा ही भूतार्थ है।

जीव और अजीव के सम्बन्ध से विचार करने पर नव तत्त्व के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह पर्याय में हैं अवश्य, परन्तु अभेद चैतन्यस्वभाव में ढलकर अनुभव करने पर वे सभी अभूतार्थ हैं। अकेले चैतन्य को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर नव तत्त्व के विकल्प उत्पन्न नहीं होते – ऐसा अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन का मार्ग है परन्तु उससे पूर्व विकल्पदशा में नव तत्त्वों को भलीभाँति जानना चाहिए। उन्हें जानने में मुमुक्षु को विकल्प की मुख्यता नहीं, अपितु आत्मा का निर्णय करने के लक्ष्य की मुख्यता है।

अभी तो जो जीव, निवृत्ति लेकर जिज्ञासापूर्वक सत्समागम में यथार्थ बात का श्रवण भी नहीं करता, वह जीव, तत्त्व की धारणा करके अन्तर में निर्णय कैसे करेगा? और तत्त्व का निर्णय किये बिना निःसन्देह होकर, अन्तर में अनुभव किस प्रकार करेगा? – ऐसे अनुभव के बिना धर्म नहीं हो सकता और संसार परिभ्रमण का अभाव भी नहीं होता। इसलिए हे भाई! वैराग्यपरिणतिपूर्वक सत्समागम से तत्त्वनिर्णय करके, अन्तर में आत्मानुभव का उद्यम कर।

सम्यग्दर्शन के विषय में तो चैतन्य की एकता ही है, उसमें नव तत्त्व के भङ्ग-भेद नहीं हैं। पहले बाह्यदृष्टि से नव तत्त्व बतलाकर, अब अन्तर में ले गये हैं। अन्तर्दृष्टि से देखने पर आत्मा तो शुद्ध ज्ञायक चैतन्य है और उसकी अवस्था में जो क्षणिक जीव-अजीव आदि तत्त्व के विकल्प हैं, वह विकार है। ज्ञायक चैतन्यस्वभाव स्वयं उस विकार का हेतु नहीं है परन्तु उस विकार का हेतु अजीव है। पर्याय में ज्ञायकपना छूटकर जो विकार होता है, वह जीव का विकार है और उसका निमित्त, अजीव है। जीव में अपनी अवस्था की योग्यता से पुण्य-पाप इत्यादि सात तत्त्व होते हैं और उसमें निमित्तरूप अजीव है। उस अजीव की अवस्था में भी पुण्य-पाप इत्यादि सात प्रकार पड़ते हैं, वे दोनों; अर्थात्, जीव और अजीव की अवस्थाएँ भिन्न हैं। अकेले ज्ञायक में सात तत्त्व नहीं हैं; इसलिए उस स्वभाव के लक्ष्य से सात तत्त्व के विकल्प नहीं होते, परन्तु स्वभाव का लक्ष्य छोड़कर पर्याय के लक्ष्य से भेद के विकल्प होते हैं, उसका निमित्त अजीव है; जीवद्रव्य कहीं उसका निमित्त नहीं है।



देखो, उसमें आत्मा की पहचान करने के लिए कहा गया है, वही धर्म की रीति है। अपनी आत्मा में धर्म का प्रारम्भ कब होता है? जैसा आत्मस्वभाव सर्वज्ञ भगवान ने कहा है, वैसा अपना आत्मस्वभाव पहचाने तो अपने में धर्म का प्रारम्भ होता है। यह प्रथम सम्यग्दर्शनधर्म की बात चलती है, आत्मा के स्वभाव को पहचानने की बात चलती है।

आत्मा की समझ करने में अन्तर की धर्म क्रिया आती है। जड़ की क्रिया मुझसे होती है और शरीर की क्रिया से धर्म होता है — ऐसा मानना तो अज्ञान की क्रिया है। उस क्रिया से संसारभ्रमण होता है। आत्मा में सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव प्रगट हो, वही आत्मा की धर्मक्रिया है और उसी से मोक्षदशा प्रगट होती है – ऐसी धर्मक्रिया की यह बात चल रही है।

आत्मा तो ज्ञायक चैतन्यज्योति है, आनन्दकन्द निर्विकारी मूर्ति है – ऐसा जो ज्ञायकभाव, वही जीव है, उसमें नव तत्त्व के भेद नहीं हैं परन्तु उसकी अवस्था में अजीव वस्तु के लक्ष्य से सात भङ्ग पड़ते हैं, उसका निमित्त अजीव है। आत्मा चैतन्यज्योति है, वह तो शुद्ध जीव है, जबकि उस ज्ञायक चैतन्यस्वभाव का अनुभव न रहे, तब उसकी अवस्था में अजीव के निमित्त से सात भङ्ग पड़ते हैं और निमित्तरूप अजीव में भी सात भङ्ग पड़ते हैं। यहाँ जीव और अजीव को अलग रखकर उन दोनों में सात-सात भङ्ग बतलाते हैं। एक ओर शुद्ध जीव अलग रखा, सामने अजीव सिद्ध किया; जीव को स्वभाव से ज्ञायक सिद्ध किया और अजीव को विकार के हेतुरूप में बतलाया। अकेले जीवस्वभाव के लक्ष्य से वीतरागभाव

की उत्पत्ति होती है और सात तत्त्व के लक्ष्य से तो रागरूप विकल्प की उत्पत्ति होती है – यह बतलाया।

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि चूककर सात तत्त्व के भेद पड़ते हैं, वे तो सब केवल जीव के ही विकार हैं। यहाँ मोक्षतत्त्व को भी जीव का विकार कहा है क्योंकि यहाँ सातों तत्त्व, विकल्परूप लिये हैं। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – ऐसे सातों तत्त्वों के विकल्प, शुद्ध जीव के लक्ष्य से उत्पन्न नहीं होते, अपितु निमित्त कर्म के लक्ष्य से उत्पन्न होते हैं; इसलिए उन सातों तत्त्वों को यहाँ विकार कहा है। उन सात तत्त्वों के लक्ष्य से एकरूप चैतन्य आत्मा दृष्टि में अथवा अनुभव में नहीं आता है और एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि में और अनुभव में सात तत्त्व के भङ्ग भेद के विकल्प उत्पन्न नहीं होते।

यद्यपि संवर, निर्जरा और मोक्ष तो आत्मा की निर्मल पर्यायें हैं परन्तु यहाँ तो उन तत्त्व सम्बन्धी विकल्प को ही संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व गिनकर, उसे विकार कहा है। आत्मा में निर्मलपर्याय प्रगटी हो, उस पर्याय के लक्ष्य से भी राग की उत्पत्ति होती है और उस राग में अजीव निमित्त है। संवर, निर्जरा और मोक्ष, वह आत्मा की निर्मलपर्याय है परन्तु उन तीनों पर्यायों का भेद करके, उनका आश्रय करने से विकार की ही उत्पत्ति होती है। उनके भेद विकल्प में चैतन्य की शान्ति उत्पन्न नहीं होती; इसलिए उन तत्त्वों को भी विकार कहा है। इसलिए उनके भेद का आश्रय छोड़कर, भूतार्थरूप अभेद स्वभाव का आश्रय करना चाहिए – यह इस कथन का उद्देश्य है।



जिसे शुद्धद्रव्य के आश्रय से संवरदशा उत्पन्न हुई है, उसकी दृष्टि उस संवरपर्याय पर नहीं होती है, अपितु अन्तर के अभेदस्वभाव पर उसकी दृष्टि होती है। उस अभेदस्वभाव की दृष्टि से ही संवर, निर्जरा प्रगट होते हैं; उस अभेद के आश्रय से ही संवर, निर्जरा टिकते हैं और उस अभेद के आश्रय से ही संवर, निर्जरा बढ़ते हैं। अभेदस्वभाव के आश्रय से ही मोक्षमार्ग है। संवर-निर्जरारूप पर्याय के लक्ष्य से संवर-निर्जरा प्रगट नहीं होते, नहीं टिकते और न ही वृद्धिगत होते हैं, अपितु उस पर्याय के लक्ष्य से तो राग की उत्पत्ति होती है; इसलिए एकरूप चैतन्यस्वभाव की दृष्टि और अनुभव के अतिरिक्त सात तत्त्व के विचार करना, वह विकार है। पुण्य-पाप इत्यादि सात तत्त्व, अकेले जीव की अवस्था में होते हैं और उसके हेतुभूत सात तत्त्व, अकेले अजीव की अवस्था में होते हैं। इस प्रकार जीव-अजीव का स्वतन्त्र परिणमन है।

जिसे ज्ञान में ऐसे जीवादि तत्त्वों का ख्याल न आवे, उसे निर्मल चैतन्यस्वभाव की दृष्टि नहीं होती। सात तत्त्वों में आत्मा की पर्याय और अजीव की पर्याय भिन्न-भिन्न है। अखण्डस्वभाव के अनुभव से सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पश्चात् भी धर्मी को नव तत्त्व के विकार आते हैं परन्तु वे विकल्प एकत्वबुद्धिपूर्वक नहीं आते; इसलिए परमार्थ से तो वे ज्ञान के ज्ञेय हो जाते हैं। धर्मी को विकल्प का और ज्ञान का भिन्नपना वर्तता है।

अभी श्रेणिक राजा नरक में हैं और आगामी चौबीसी में पहले तीर्थङ्कर होनेवाले हैं। उन्हें अनेक रानियों और राजपाट का संयोग होने पर भी अन्तर में ऐसे ज्ञायक चैतन्यतत्त्व का भान था। अस्थिरता से राग-द्वेष होने पर भी, उस क्षण भी चैतन्य ज्ञायक में ही एकता

की दृष्टि थी; इसलिए प्रति क्षण धर्म होता था।

भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड के राज्य में भी ऐसा भान था। तीर्थङ्कर भगवान माता के गर्भ में हों अथवा छोटे बालक हों, तब भी उन्हें चैतन्य का ऐसा ही भान होता है। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र-इन्द्राणी; अर्थात्, शकेन्द्र और शची इन्द्राणी को भी ऐसा भान होता है, वे एकावतारी हैं। तीर्थङ्कर भगवान की सभा में सिंह-बाघ, सर्प इत्यादि अनेक तिर्यञ्च भी ऐसा आत्मभान प्राप्त कर लेते हैं। नरक में भी असंख्य जीवों को ऐसा भान होता है। आठ वर्ष का बालक भी ऐसा भान कर लेता है। यह सब भेद तो बाह्य शरीर के हैं, अन्दर आत्मा तो सबका एक समान चिदानन्दी भगवान है, उसका भान करके जो जागृत होता है, उसे ऐसा आत्मभान प्रगट हो जाता है।

इस चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव को समझे बिना, शास्त्रों का पठन भी मात्र पुण्यबन्ध का कारण है। जिसे आत्मा का लक्ष्य नहीं है, वह कितने ही शास्त्र पढ़े, परन्तु उसे शास्त्र का वह समस्त पठन, मात्र मन के बोझरूप है; अन्तर में चैतन्य आनन्द की सुगन्ध उसे नहीं आती है, आत्मा की शान्ति का अनुभव उसे नहीं होता है। तिर्यञ्च आदि जीवों को शास्त्र का पठन न होने पर भी तीर्थङ्कर भगवान इत्यादि की वाणी सुनकर, अन्तर में यथार्थ भावभासन होने पर वे आत्मा के आनन्द का अनुभव प्रगट कर लेते हैं। वे तो आत्म अनुभवरहित ग्यारह अङ्ग के पाठी से भी उत्कृष्ट; अर्थात्, प्रशंसनीय है।

त्रिलोकनाथ तीर्थङ्करदेव ने प्रत्येक वस्तु को स्वतन्त्र देखकर नव तत्त्व का स्वरूप बतलाया है। उन नव तत्त्वों को पहचानकर नौ



के भेद के विकल्परहित, अकेले ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करना, वह धर्म है।

यहाँ जीव की पर्याय में जो सात तत्त्व के भेद पड़ते हैं, उसमें अजीव निमित्त है - ऐसी बात ली गयी है परन्तु अजीव में सात भेद पड़ते हैं, उसमें जीव निमित्त है, यह बात नहीं ली है, क्योंकि एक तो उसमें जीव की अधिकता बतलानी है और दूसरे, जीव को सात तत्त्व के भेद का लक्ष्य छुड़ाकर, स्वभाव की एकता करानी है। अजीव में कोई सात भेद छुड़ाकर एकता कराने का प्रयोजन नहीं है। जीव के द्रव्य-पर्याय दोनों की पहचान करके पर्यायभेद का लक्ष्य छोड़कर, अभेदस्वभाव में ढलना ही प्रयोजन है। यहाँ स्वयं भेद का लक्ष्य छोड़कर, स्वभाव में एकाग्र होने पर अजीव निमित्त का लक्ष्य छूट जाता है और उस समय अजीव में स्वयमेव आस्रव बन्ध के निमित्तरूप परिणमन छूटकर, संवर, निर्जरा, मोक्ष के निमित्तरूप परिणमन होता है।

जिस प्रकार पानी के एक प्रवाह में बीच में सात खम्बेवाला पुल आने पर पानी में सात भङ्ग पड़ जाते हैं, उसमें वह पुल निमित्त है; उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का ज्ञानप्रवाह अनादि अनन्त एकरूप है, उसकी क्षणिक अवस्था में अजीव के निमित्त से सात प्रकार पड़ते हैं। उन सात प्रकारों को लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर, एकरूप चैतन्य ज्ञायक आत्मा अनुभव में नहीं आता। अहा! यह तो अन्तर के अनुभव का अपूर्व विषय है!! बाह्य में बुद्धि का विशेष क्षयोपशम हो तो वह इसमें काम आवे - ऐसा नहीं है परन्तु चैतन्य की रुचि से ज्ञान को अन्तर में झुकाने का अभ्यास करना ही अन्तर के अनुभव का उपाय है।

अहो! मैं सम्पूर्ण ज्ञायक हूँ, ज्ञानशक्ति से परिपूर्ण भरा हूँ, बुद्धि का विकास तो ज्ञान की अल्प अवस्था है। अरे! केवलज्ञान के समक्ष उसकी क्या गिनती? ऐसी तो अनन्त केवलज्ञान अवस्थाओं का पिण्ड मेरा एक ज्ञानगुण है और ऐसे अनन्त गुणों का पिण्डरूप सम्पूर्ण चैतन्य वस्तु वह मैं हूँ। इस प्रकार अपने अभेद आत्मा को लक्ष्य में लेना ही धर्म का प्रारम्भ है।

वस्तु का स्वरूप समझे बिना लोग, बाह्य में उपवास इत्यादि में धर्म मान बैठे हैं परन्तु बाह्य में आहार न आना तो जड़ की क्रिया है, उस समय शुभभाव हों तो वह पुण्य है और धर्म तो उन दोनों से पार आत्मा की अन्तर्दृष्टि से होता है। शुभराग करने से धर्म नहीं हो जाता तथा आहार नहीं आया, इससे शुभभाव हुआ – ऐसा भी नहीं है तथा जीव के शुभराग के कारण आहार की क्रिया रुक गयी – ऐसा भी नहीं है। जीव का धर्म अलग वस्तु है, शुभराग अलग वस्तु है और बाहर की क्रिया अलग वस्तु है; इस प्रकार समस्त तत्त्वों को जानना चाहिए।

जिसे नव तत्त्व की व्यवहारश्रद्धा भी नहीं है, उसे अखण्ड –स्वभाव की दृष्टि नहीं होगी। 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा विचार / विकल्प, वह भी परमार्थश्रद्धा नहीं है। यहाँ 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसे विकल्प को भी नव तत्त्व में से जीवतत्त्व में ले लिया है; इसलिए वह भी व्यवहारश्रद्धा में जाता है। शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा में 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसा विकल्प भी नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' – ऐसी अनुभूति करे, वह तो आनन्दरूप है, उसमें कोई विकल्प नहीं है; इसलिए ऐसी अनुभूति तो जीव है परन्तु ऐसी अनुभूति न



करे और मात्र उसके विचार में ही रूक जाए तो उसमें भेद का विकल्प है; वह परमार्थ जीव नहीं है। पर्याय के लक्ष्य से एक जीवद्रव्य को पर्यायरूप अनुभव किये जाने पर जीव–अजीव, पुण्य–पाप इत्यादि नव तत्त्व भूतार्थ हैं परन्तु जब तक यहाँ तक के विचार में अटका है, वहाँ तक धर्म नहीं है। नव तत्त्व के भेद के विचार छोड़कर अकेले शुद्ध जीव को ही भूतार्थरूप अनुभव करने पर धर्म होता है और मोक्ष का द्वार खुलता है।

पहले, जीव–पुद्गल दोनों के बन्धपर्याय की बात की थी, अकेले जीवद्रव्य की अवस्थारूप से देखने पर नव तत्त्व भूतार्थ हैं – ऐसा कहकर अब अन्तरोन्मुख कराते हैं कि सर्व काल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और ज्ञायक एक आत्मा ही भूतार्थ है, यही सम्यग्दर्शन है।

ज्ञायकद्रव्य ही त्रिकाली अस्खलित है, निर्मल अवस्था के समय अथवा विकारी अवस्था के समय भी आत्मा का ज्ञायक स्वभाव सदा एकरूप है और सात तत्त्व तो स्खलित हैं, क्षणिक हैं। नव तत्त्व के विकल्प क्षणिक हैं, उन नव तत्त्व के विकल्प छोड़कर एक अखण्डित ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि करना, वह मोक्ष का मार्ग है। आत्मा के अखण्डस्वभाव के समीप जाकर; अर्थात्, स्वभावसन्मुख एकाग्र होकर अनुभव करते समय, नव तत्त्व लक्ष्य में नहीं आते; इसलिए वे नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। अस्थिरता के समय धर्मी को नव तत्त्व के विकल्प आते हैं तो भी उन पर धर्मी की दृष्टि नहीं होती। उसे उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, अपितु एक

चैतन्य की ही मुख्यता है; इसलिए नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और इसलिए उन नव तत्त्वों को छोड़कर, भूतार्थरूप भगवान आत्मा ही अकेला उपादेय है।

किसी को यह **शङ्का** होती है कि अरे! नव तत्त्वों को छोड़ने योग्य कहा है तो क्या जीवतत्त्व को छोड़ देना है?

उसका **समाधान** यह है कि अरे भाई! धैर्यवान होकर समझ! अभी क्या बात चलती है? – उसका आशय ग्रहण कर! यहाँ विकल्प छुड़ाकर निर्विकल्प अनुभव कराने के लिए नव तत्त्वों को हेय कहा है, क्योंकि नव तत्त्व के लक्ष्य से विकल्प हुए बिना नहीं रहता और आत्मा का निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। जीव के विकल्प को भी छुड़ाकर शुद्ध जीव का निर्विकल्प अनुभव कराने के लिए नव तत्त्वों में जीवतत्त्व को भी हेय कहा है। अभी यह बात सुनना भी कठिन पड़ती है तो वह समझकर अन्तर में अनुभव तो कब करेगा।

नाटक समयसार में कहा है कि —

**बात सुनि चौंकि उठे वात ही सौं भौंकि उठे,**
**बात सौं नरम होइ, बात ही सौं अकरी।**
**निंदा करै साधु की, प्रशंसा करै हिंसक की,**
**साता मानैं प्रभुता, असाता मानैं फकरी॥**
**मोख न सुहाइ दोष, देखै तहाँ पैठि जाइ,**
**काल सौं डराइ जैसैं, नाहर सौं बकरी।**
**ऐसी दुरबुद्धि भूला, झूठ के झरोखे झूली,**
**फूली फिरै ममता, जंजीर निसौं जकरी॥ ३९॥**



इसमें दुर्बुद्धि जीव की परिणति का वर्णन किया गया है। उसमें कहते हैं कि अज्ञानी जीव, हित–अहित का विचार नहीं करता और सत्य बात सुनते ही चौंक उठता है। सत्य बात कान में पड़ते ही भड़ककर चिल्लाने लगता है, अपनी मनोनुकूल बात सुनते ही नरम हो जाता है और अपने को अरुचिकर बात हो तो चिड़ जाता है तथा वह जीव, मोक्षमार्गी साधुओं की निन्दा करता है और हिंसक अधर्मियों की प्रशंसा करता है। साता के उदय में अपने को महान मानता है और असाता के उदय में तुच्छ गिनता है। उसे मोक्ष तो रुचता नहीं है और कहीं दुर्गुण दिखाई दे तो उन्हें झट अङ्गीकार कर लेता है। उसे शरीर में अहंबुद्धि होने के कारण वह मोक्ष से तो ऐसा डरता है कि जैसे शेर से बकरी डरती है। इस प्रकार उसकी मूर्खता, अज्ञान से असत्य के मार्ग में चल रही है और ममता की साङ्कल से जकड़कर बुद्धि पानी भर रही है।

यहाँ कहते हैं कि भाई! सुन तो सही! यह क्या बात है? धर्म की सत्य बात कान में पड़ना भी दुर्लभ है। यदि धैर्यवान होकर अन्तर में समझे तो इस बात की महिमा का पता चल सकता है।

शुद्धपर्याय का लक्ष्य करके उसका आदर करने में भी विकल्प उत्पन्न होता है और राग होता है। त्रिकाली चैतन्यतत्त्व के आदर में वह पर्याय प्रगट हो जाती है। पर्याय के आश्रय में अटकने से निर्मलपर्याय नहीं होती, परन्तु शुद्धद्रव्य का आश्रय करने से वह पर्याय स्वयं निर्मल हो जाती है। निर्मलपर्याय वस्तु के आधार से होती है; इसलिए निर्मलपर्याय प्रगट करनेवाले की दृष्टि वस्तु पर होती है; पर्याय पर उसकी दृष्टि नहीं होती है। उस वस्तुदृष्टि में नव तत्त्व अभूतार्थ हैं और एक अभेद आत्मा ही प्रकाशमान है।

देखो ! नव तत्त्वों को अभूतार्थ कहकर यहाँ पर्यायदृष्टि को ही हेय कहा है और अखण्ड चैतन्यतत्त्व सर्व काल अस्खलित है, उसकी दृष्टि करायी है। संवर, निर्जरा अथवा मोक्ष, यह कोई तत्त्व सर्व काल में अस्खलित नहीं है; इसलिए ये सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। सर्व काल में अस्खलित तो एक चैतन्यद्रव्य ही है, वही सम्यग्दर्शन का ध्येय है; इसलिए भूतार्थनय से देखने पर नव तत्त्वों में एक जीव ही प्रकाशमान है, उसके अनुभव से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं। ऐसे भूतार्थरूप शुद्ध आत्मा को ही प्रतीति में लेना, इस गाथा का तात्पर्य है और यही प्रत्येक आत्मा का पहला कर्तव्य है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 157-169 ]*

## मुनिदशा में उपशमरस का ज्वार

अहो ! मुनिवर तो आत्मा के आनन्द में झूलते हैं। बारम्बार अन्तर में निर्विकल्प अनुभव करते हैं। बाह्य दृष्टि जीवों को उस मुनिदशा की कल्पना आना भी कठिन है। मुनि की बाह्यदशा तो बिलकुल नग्न दिगम्बर ही होती है तथा अन्तर में आत्मा की शान्ति का सागर उछलता है.... आनन्द का सागर उछलता है.... उपशमरस का ज्वार आया है। यद्यपि अभी महाव्रतादि की शुभवृत्ति उत्पन्न होती है, किन्तु उसे ज्ञानस्वभाव से भिन्न जानते हैं।

*( पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिनशासन, पृष्ठ - 42 )*

**आत्मार्थी जीव का पहला कर्तव्य - ( 9 )**

# 29. भगवान आत्मा की प्रसिद्धि

धर्म करने के लिए जीव को आत्मा का स्वभाव समझकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञायक है, ज्ञान ही उसका स्वरूप है। अवस्था में जो कुछ विकारीभाव होते हैं, वे तो मात्र वर्तमान योग्यता से तथा कर्म के निमित्त से होते हैं। मूल वस्तुस्वरूप में वह विकार अथवा नव तत्त्व के भेद नहीं हैं। शुद्धनय द्वारा एकरूप ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने पर ज्ञायकस्वभाव एक ही भूतार्थ है; नव तत्त्व अभूतार्थ हैं। 'मैं ज्ञायक वस्तु हूँ' – ऐसा जहाँ अन्तर्दृष्टि से निश्चित किया, वहाँ भेद का विकल्प टूटकर, अभेदरूप आत्मा का अनुभव हुआ और वही सम्यग्दर्शनधर्म है।

जैसा वस्तु का मूलस्वभाव है, वैसा परिपूर्ण प्रतीति में ले तो धर्म होता है या उससे उलटा प्रतीति में ले तो धर्म होता है ? वस्तु के पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में ले तो उसके आश्रय से धर्म होता है परन्तु यदि अपूर्णता अथवा विकार को ही सम्पूर्ण वस्तु मान ले तो उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। आत्मा के स्वभाव का निर्णय कहो या सर्वज्ञ का निर्णय कहो, दोनों एक ही है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव है, वही सर्वज्ञ को प्रगट हुआ है और सर्वज्ञ जैसा ही इस

आत्मा का स्वभाव है। दोनों में परमार्थ से कुछ भी अन्तर नहीं है; इसलिए आत्मा का पूर्ण स्वभाव पहचानने पर उसमें सर्वज्ञ की पहचान भी आ जाती है और सर्वज्ञ की वास्तविक पहचान करने में आत्मा के स्वभाव की पहचान भी आ जाती है।

सर्वज्ञ भगवान ने प्रथम तो अपने पूर्ण ज्ञायकस्वभाव की श्रद्धा की थी, और तत्पश्चात् आत्मा में एकाग्र होकर पूर्ण ज्ञानदशा प्रगट की है। उस ज्ञान द्वारा वे भगवान एक समय में सब कुछ जानते हैं और जानना वह अपना स्वरूप होने से उस पूर्ण ज्ञान के साथ भगवान को पूर्ण स्वाभाविक आनन्द भी है और उन्हें रागादि दोष बिलकुल नहीं है। इस प्रकार जहाँ सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय किया, वहाँ अपने में भी अपने रागरहित ज्ञानस्वभाव का निर्णय हुआ।

परिपूर्ण ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, इसके अतिरिक्त रागमिश्रित विचार आते हैं, वह मेरा / चैतन्य का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वस्तु का स्वभाव परिपूर्ण ही होता है। जैसे, जड़ में अचेतनपना है, उसमें अंशमात्र भी जानपना नहीं है। जड़ का अचेतन स्वभाव है; इसलिए उसमें परिपूर्ण अचेतनपना है और ज्ञान बिलकुल नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव, ज्ञान है तो उसमें ज्ञान परिपूर्ण है और अचेतनपना बिलकुल नहीं है। राग भी अचेतन के सम्बन्ध से होता है; इसलिए राग भी ज्ञानस्वभाव में नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वभाव का निर्णय और अनुभव करना ही धर्म का प्रारम्भ है।

'ज्ञायकस्वभाव, वही जीव है' – ऐसा कहने से उसमें ज्ञान की पूर्णता ही आती है। पर्याय में अल्पज्ञता हो, वह उसका स्वभाव नहीं है। अभी अवस्था में अल्प ज्ञान है परन्तु अवस्था में सदा अल्प ज्ञान ही रहा करे – ऐसा स्वभाव नहीं है। एक समय में पूर्ण ज्ञानरूप परिणमित होना ही उसका स्वभाव है तथा अवस्था में अल्पज्ञता के साथ जो रागादिक भाव हैं, वे भी वास्तविक जीवस्वभाव नहीं हैं। राग और अल्पज्ञता से रहित, एकरूप ज्ञायकभाव ही परमार्थ जीव है। ऐसे पूर्ण ज्ञायकस्वभावी आत्मा का निर्णय करके, उसमें एकाग्र होने पर पर्याय में अल्पज्ञता अथवा राग-द्वेष नहीं रहते हैं परन्तु सर्वज्ञता और वीतरागता हो जाती है। पहले तो ऐसे पूर्ण आत्मा को श्रद्धा में स्वीकार करने की यह बात है। स्वभाव कहना और फिर उसमें अपूर्णता कहना, तब तो वह स्वभाव ही नहीं रहता। स्वभाव कभी अपूर्ण नहीं होता और जो अपूर्ण हो, उसे स्वभाव नहीं कहते हैं।



जिस प्रकार छोटी पीपल के स्वभाव में चौसठ पहरी पूर्ण चरपराहट शक्तिरूप से विद्यमान है, उसमें से वह प्रगट होती है। यह छोटी पीपल ही है और इसमें से चरपराहट प्रगट होगी; इस प्रकार उसकी शक्ति का विश्वास करके, उसे घिसकर वह चरपराहट प्रगट करने का विकल्प आता है, किन्तु कङ्कर को घिसने का विकल्प नहीं आता है क्योंकि कङ्कर में चरपराहट प्रगट होने का स्वभाव नहीं है – ऐसा जाना है। जिसमें जो स्वभाव होता है, उसमें से ही वह प्रगट होता है संयोग में से नहीं आता। इसी प्रकार आत्मा का वह स्वभाव, ज्ञायकस्वभाव है, उसमें सर्वज्ञता की सामर्थ्य है, उस पूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसमें एकाग्रतारूपी घिसावट / लीनता करने से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट होता है।

जहाँ ज्ञानस्वभाव भरा है, उसमें से ज्ञान प्रगट होता है; किसी संयोग में से ज्ञान नहीं आता। शरीरादि अचेतन हैं, उनमें से ज्ञान नहीं आता। मैं पर का कर्ता तो नहीं हूँ ही, नव तत्त्व के विकल्प का

भी मैं कर्ता नहीं हूँ; मैं तो पूर्ण ज्ञायक हूँ। इस प्रकार अपने अन्तरस्वभाव का निर्णय करके, उसमें एकाग्र होना, वह धर्म है।

आत्मा के अन्तरस्वभाव की दृष्टि करने पर उसमें एक ज्ञायकमूर्ति जीव ही भूतार्थरूप से प्रकाशमान है, नव तत्त्वों के विकल्प उसमें नहीं हैं। भले ही साधक को नव तत्त्वों के विकल्प हों परन्तु उसकी दृष्टि तो अभेद स्वभाव में ही है। उस अभेदस्वभाव की ही मुख्यता में उसे ज्ञान की निर्मलता होती जाती है और राग-द्वेष का अभाव होता जाता है। विकल्प होने पर भी अभेदस्वभाव की दृष्टि में तो वे अभूतार्थ ही हैं। इस प्रकार शुद्धनय द्वारा एकरूप प्रकाशित शुद्ध आत्मा का अनुभव होता है। ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति, वह आत्मप्रसिद्धि है और शुद्ध आत्मा की प्रसिद्धि, वह नियम से सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है, बाधारहित है।

कोई कहता है 'सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में जाना होगा, तब आत्मा को धर्म होगा, अभी यह सब समझने से क्या काम है?' तो ऐसा कहनेवाले की दृष्टि विपरीत है; उसे आत्मा के धर्म की रुचि नहीं है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई! 'सर्वज्ञ भगवान ने सब देखा है और वैसा ही सब होता है' - इस प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की और वस्तु के स्वभाव की तू बात तो करता है परन्तु तुझे ज्ञान की महिमा तो आती नहीं है। हम पूछते हैं कि तू जो सर्वज्ञ की बात करता है, उस सर्वज्ञ का निर्णय तूने किस ज्ञान में किया है? जिस ज्ञान में सर्वज्ञता का और वस्तु के स्वरूप का निर्णय करता है, वह ज्ञान, आत्मस्वभाव सन्मुख ढले बिना रहता ही नहीं और उसे वर्तमान में ही धर्म का प्रारम्भ हो जाता है तथा सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में भी ऐसा ही ज्ञात होता है।



जिसने आत्मा की पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य को प्रतीति में लेकर उसमें एकता की है, उसे ही वास्तव में सर्वज्ञ के ज्ञान की प्रतीति हुई है। जो राग को अपना स्वरूप मानकर, राग का कर्ता होता है और रागरहित ज्ञानस्वभाव की जिसे श्रद्धा नहीं है, उसे सर्वज्ञ की भी वास्तविक मान्यता नहीं है; इसलिए सर्वज्ञ के निर्णय में ही ज्ञानस्वभाव के निर्णय का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है। वही मोक्षसन्मुख का पुरुषार्थ है और वही धर्म है। लोगों को बाहर की धूमधाम दिखे, उसमें पुरुषार्थ लगता है परन्तु अन्तर में ज्ञानस्वभाव के निर्णय में ही ज्ञाता-दृष्टापने का और राग के अकर्तापने का सम्यक् पुरुषार्थ आ जाता है, उसे बहिर्दृष्टि लोग नहीं जानते हैं। वस्तुतः ज्ञायकपना ही आत्मा का पुरुषार्थ है, ज्ञायकपने से अलग दूसरा कोई सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है।

जीव, जाननेवाला है; आत्मा, ज्ञायकस्वभावी है - ऐसा सम्यक् निर्णय किया, वही आत्मा की अन्तरक्रिया है, वही धार्मिकक्रिया है परन्तु बाहर की देहदृष्टि से देखनेवाले को यह बात ख्याल में नहीं आती है। अवस्था का पलटना, वह क्रिया है। 'मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ' - इस प्रकार स्वभाव में दृष्टि करके पलटना, वह धर्म की क्रिया है और 'मैं विकारी हूँ' - ऐसी विकारी दृष्टि करके पलटना, वह अधर्म की क्रिया है; देह की क्रिया, वह जड़ की क्रिया है।

शुद्धनय द्वारा अन्तर्दृष्टि से देखने पर आत्मा एक ज्ञायकभावरूप प्रकाशमान भूतार्थ अनुभव में आता है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू अन्तर में तो देख! वहाँ छलाछल ज्ञानस्वभाव भरा है। जैसे, जहाँ सरोवर में पानी भरा हो, वहीं वह उछलता है; इसी प्रकार अन्तर के चैतन्य सरोवर में परिपूर्ण ज्ञान भरा है, उसमें डुबकी मार

तो पर्याय में ज्ञान उछलेगा। कहीं पर के सामने देखने से अथवा भेद के विचार से तेरे गुण प्रगट नहीं होंगे; इसलिए उन्हें छोड़कर अन्तर के परिपूर्ण स्वभाव के सन्मुख दृष्टि कर और उसमें ही एकाग्र होकर अनुभव कर।

जो नव तत्त्वों को नहीं पहचानता, उसे तो अनुभव में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती और नव तत्त्व को ज्यों का त्यों जानकर, नव तत्त्व के विकल्प में ही रुकनेवाले को नव तत्त्व की ही प्रसिद्धि है परन्तु भगवान आत्मा की प्रसिद्धि नहीं है; अर्थात्, सम्यग्दर्शन नहीं है। नव तत्त्व के भेद की दृष्टि छोड़कर, एकाकार ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि से अनुभव करने पर भगवान आत्मा की प्रसिद्धि होती है। वह सम्यग्दर्शन है और वहीं से धर्म का प्रारम्भ होता है।

यहाँ 'आत्मा की प्रसिद्धि' होने की बात कहीं है, उसका आशय क्या है? त्रिकाली आत्मस्वभाव तो प्रसिद्ध ही था, वह कहीं ढका नहीं था परन्तु अवस्था में पहले उसका भान नहीं था और अब उसका भान होने पर अवस्था में भगवान आत्मा की प्रसिद्धि हुई। निर्मल अवस्था प्रगट होने पर द्रव्य-पर्याय की अभेदता से 'आत्मा ही प्रसिद्ध हुआ' – ऐसा कहा है। अनुभव में कहीं द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं है। रागमिश्रित विचार छूटकर ज्ञान, ज्ञान में ही एकाग्र हुआ, इसका नाम आत्मख्याति है। यहाँ उस आत्मख्याति को सम्यग्दर्शन कहा है। यद्यपि आत्मख्याति, स्वयं तो ज्ञान की पर्याय है परन्तु उसके साथ सम्यग्दर्शन अविनाभावीरूप से होता है; इसीलिए उस आत्मख्याति को ही यहाँ सम्यग्दर्शन कहा है।

इस प्रकार नव तत्त्वों में भूतार्थरूप से प्रकाशमान एक आत्मा को जानना ही नियम से सम्यग्दर्शन है – ऐसा सिद्ध करके श्री



आचार्यदेव निशङ्कतापूर्वक कहते हैं कि यह सर्व कथन निर्दोष है। ऐसा ही वस्तु स्वरूप है और ऐसी ही सम्यग्दर्शन की विधि है; इसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि नहीं है। इसके अलावा दूसरा कुछ मानें तो, वह बाधासहित है। नव तत्त्व को भलीभाँति नहीं जाने तो वह मिथ्यात्वरूप दोषसहित है तथा नव तत्त्व के भेद के विकल्प में ही रूका रहे और एकरूप ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति नहीं करे तो वह भी मिथ्यात्वरूप दोषसहित है। नव तत्त्व को जानने के पश्चात् ज्ञायकस्वभाव की एकता में ज्ञान ढले, वही निर्दोष सम्यग्दर्शन है, वही निर्दोष उपाय है।

यहाँ तो आत्मार्थी जीव, नव तत्त्वों को जानकर अन्तर के अनुभव में झुकेगा ही – ऐसी ही बात है। नव तत्त्व में अटककर वापिस मुड़ जाएगा – ऐसी बात ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि यह तो अफरगामी मुमुक्षु की ही बात है।

नव तत्त्व को जाननेवाला कौन है? नव तत्त्व को जाननेवाली तो ज्ञान की अवस्था है। कोई इन्द्रियाँ अथवा राग, नव तत्त्व को जानने का काम नहीं करते, परन्तु ज्ञान की अवस्था ही उन्हें जानने का काम करती है। अब, यदि ज्ञान की जो अवस्था है, उस अवस्था ने अन्तर्मुख होकर ज्ञायकस्वभाव में एकता का काम नहीं किया और बहिर्मुख रहकर भेद के लक्ष्य से विकल्प में एकता करके अटक गयी तो उस ज्ञान अवस्था में आत्मा प्रसिद्ध नहीं हुआ; अर्थात्, धर्म नहीं हुआ, क्योंकि उस ज्ञानपर्याय ने स्वसन्मुख होकर स्वभाव का काम नहीं किया, किन्तु परलक्ष्य से राग में ही अटक कर संसारभाव की उत्पत्ति की है। इसलिए ज्ञान की अवस्था में नव तत्त्व के भेद का भी लक्ष्य छोड़कर, अभेद आत्मा की दृष्टि करके ज्ञायक का अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन का उपाय है।

जिसे पहले नव तत्त्व के विचार से चैतन्य का अनुभव करना भी नहीं आता, वह विकल्प तोड़कर अन्तर में चैतन्य का साक्षात् अनुभव किस प्रकार कर सकेगा? पहले नव तत्त्व के ज्ञान द्वारा चैतन्यस्वभाव को बुद्धि में पकड़कर, फिर उस स्वभाव के निर्णय का घोलन करते-करते विकल्प टूटकर, अन्तर में एकाग्रता होती है। ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख ढलकर अकेले ज्ञायक का रागरहित अनुभव करना ही धर्म की निर्दोष क्रिया है।

हे भाई! नव तत्त्व के निर्णय में सर्वज्ञ का निर्णय भी समाहित हो जाता है। प्रथम, यदि तुझे सर्वज्ञ का निर्णय न हो तो अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय कर। अपने ज्ञान में सर्वज्ञ का निर्णय किया तो उस ज्ञान में आत्मा के परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव का निर्णय आ जाता है। सर्वज्ञ का निर्णय करने से अपने ज्ञातास्वभाव की प्रतीति हुई और पर्याय, ज्ञानशक्ति के सन्मुख होकर एकाग्र होने लगी, वही सच्चा पुरुषार्थ है। भले ही उस जीव को पर्याय में ज्ञान की अपूर्णता हो और राग भी होता हो, तथापि वह जीव, राग का कर्ता नहीं होता; वह तो राग का भी ज्ञायक रहता है और अल्पज्ञता जितना वह अपना स्वरूप नहीं मानता। पर्याय में अल्पज्ञता होने पर भी उसकी दृष्टि तो परिपूर्ण ज्ञानमूर्ति स्वभाव में ही है - ऐसा जीव, साधक है।

सर्वज्ञ को पूर्ण ज्ञान है और इस साधक सम्यग्दृष्टि को अपूर्ण ज्ञान है, इतना अन्तर है परन्तु यह साधक जीव भी ज्ञानस्वभाव की एकता की दृष्टि में राग का कर्ता नहीं, अपितु ज्ञायक ही है। इस प्रकार ज्ञायकस्वभाव का निर्णय करके उसके अनुभव द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही प्रत्येक आत्मार्थी-मोक्षार्थी जीव का पहला कर्तव्य है। ●

*[ सम्यग्दर्शन, भाग-3, पृष्ठ 170-176 ]*

# 30. मौत सिर पर मँडरा रही

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दुःख होता है तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दुःख होगा? मरण की वेदना भी कितनी होगी? 'कोई मुझे बचाओ' – ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा?

तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस पास खड़े हुए अनेक सगे-सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो – ऐसा है ?

यदि तूने शाश्वत स्वयं रक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे शरण देगी; इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मँडरा रही है' – ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' – ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।

*(– बहिनश्री के वचनामृत, क्रमाङ्क 412)*

देहधारी जीव को, वर्तमान गति की आयु पूर्ण होने पर देह के

वियोगरूप मरण तो अवश्य आना ही है; उस समय शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, परिवार इत्यादि सब छूट जाएगा। पूर्व भव से प्रारब्ध के अनुसार जीव अकेला आया था और आगामी भव में उपार्जित प्रारब्ध के अनुसार अकेला ही चला जाएगा। इसके जन्म-मरण में किसी की सहभागिता नहीं है। मरणकाल में यहाँ का सब छूट जाएगा; मात्र बाँधे हुए कर्म, उसका फल देने के लिए साथ जाएँगे।

**अरे! बाहर की एक वस्तु छोड़ने पर तुझे इतना दुःख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूट जाएँगे, बदल जाएँगे, तब तुझे कितना असहनीय दुःख होगा ?**

जिसे देह के साथ तीव्र एकत्वबुद्धि है, उसे देह छूटने के काल में मरण की वेदना भी बहुत होती है; मरण काल में वह रोग, वेदना, मरण, एकत्वबुद्धि और आर्तध्यान के जाल में जकड़कर देह छोड़ता है।

वचनामृत क्रमाङ्क ३४९ में कहा है कि **'तू स्थिरता अपेक्षा से सब बाहर का न छोड़ सके; तो श्रद्धा अपेक्षा तो छोड़।'** बाह्य की श्रद्धा छोड़ने से तेरा कुछ चला नहीं जाएगा। उल्टे परम पदार्थ; अर्थात्, आत्मा प्राप्त होगा। अरे! ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाल शुद्ध निज चैतन्य के अतिरिक्त, संयोग या संयोगीभाव या राग का एक अंश भी मेरा नहीं है, मैं उसका नहीं हूँ। राग और रजकण मेरा नहीं है — ऐसा प्रथम उन्हें श्रद्धा अपेक्षा तो छोड़!

अन्तरङ्ग में स्वरूप स्थिरता होकर, अस्थिरता छूटे, वह बात तो अलग है परन्तु आत्मा सहज ज्ञानानन्दस्वरूप है; उसके अतिरिक्त



राग अथवा रजकण सभी परभाव हैं। यदि उन्हें श्रद्धा अपेक्षा से नहीं छोड़ सके तो तुझे देह छूटने के काल में दुःख होगा। तेरी नजर देह पर रहेगी और रोग, मरण और वेदना की एकत्वबुद्धि तथा आर्तध्यान की पीड़ा में तू पीड़ित हो जाएगा। अरे! देह छूटने के काल में मरण की कितनी पीड़ा होगी ?

देह के साथ एकत्वबुद्धि से व्यामोहित अज्ञानी जीव को, देह से अलग होना नहीं रुचता। **मरण काल में 'मुझे कोई बचाओ' — ऐसा उसका हृदय पुकारता है परन्तु वहाँ उसका क्या बस चल सकता है ?** 'अब बचने का कोई उपाय नहीं है' — ऐसा कहकर डाक्टर और वैद्य हाथ खींच लेंगे, भले ही तेरा हृदय पुकारे कि 'मुझे कोई बचाओ...' अहा! देह छूटने के प्रसङ्ग में कौन बचावे और कौन रखे ?

अभी तो छोटी-छोटी उम्र में देह छोड़कर चले जाते हैं, बचाने के लिए दश-दश हजार रुपया खर्च करे; परन्तु पैसा क्या कर सकता है ?

**बड़े करोड़पति हों और विदेश से डॉक्टर बुलावें, परन्तु जहाँ मरण का काल आया हो, वहाँ वे क्या बचा सकते हैं ? समूहरूप से एकत्रित सगे-सम्बन्धी भले ही तेरा दीर्घायुपना चाहें और तू भी भले ही दीनता से उनकी ओर टुकुर-टुकुर देखता रहे तो भी क्या कोई तुझे बचा सकेंगे ? क्या कोई तुझे शरणभूत होंगे ?**

भाई! शरणभूत तो अन्दर में शान्ति और समाधि का दातार, निज ज्ञायक परमात्मा है। उसकी ओर नजर न करे, उसकी रुचि, प्रतीति न करे तो बाहर में तुझे कौन शरणभूत हो सकता है ? इस संसार में जहाँ संयोगमात्र सब क्षणिक है, वहाँ तुझे कौन शरण देगा ?

**बापू! यदि तूने अन्तरङ्ग में स्वतःसिद्ध, शाश्वत और स्वयं रक्षित त्रिकाल शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा की सच्ची समझ, श्रद्धा और अनुभूति करके आत्म आराधना की होगी, ज्ञायक में से सच्ची शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे शरण देगी।**

दया, दान, व्रत और भक्ति के शुभभाव तो पुण्यबन्ध का कारण हैं, वह शुभभाव और पुण्यकर्म स्वयं अनित्य हैं, विनाशीक हैं; आत्मा को शरण देनेवाले नहीं हैं। तब आत्मा को शरण कौन दे सकता है ? जो स्वयं शाश्वत, स्वभावभूत और सुखरूप हो, वह शरण दे सकता है। शुभभाव तो क्षणिक और विभावरूप है, आकुलतास्वरूप है, वे तुझे शरण कैसे दे सकते हैं ? वस्तुतः वे तो आत्मा के लिए अशरण हैं।

भगवान आत्मा, सत् होने से शाश्वत अर्थात् अनादिनिधन और स्वतःसिद्ध होने से स्वयं रक्षित है। सहज ज्ञान और सहज आनन्द — ये दो उसके मुख्य गुण हैं। सहज ज्ञान और सहज आनन्दस्वरूप निज ज्ञायक आत्मा के स्वभाव-सन्मुख होकर और पर, देहादिक तथा रागादिक विभावों से विमुख होकर सच्ची समझ, प्रतीति और अनुभूति अर्थात् आत्मा की आराधना की होगी, अन्दर से शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही शरणभूत होगी।

यदि तू बहुत पढ़ा होगा, शास्त्र का बहुत ज्ञान होगा तो वह शरणभूत होगा — ऐसा नहीं है। परलक्ष्यी ज्ञान तो ज्ञेयनिमग्न है; वह आत्मनिमग्न नहीं है। जैसे, शुभाशुभभाव विभावमय, दुःखरूप और अशरणभूत हैं; उसी प्रकार ज्ञेयनिमग्न ज्ञान; अर्थात्, शास्त्रों का बहिर्लक्ष्यी ज्ञान भी विभावमय, दुःखरूप और अशरणभूत है।



जीव, भले ही कितने ही शास्त्रों को पढ़े, परन्तु यदि सहज ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्ध अस्तित्व को; अर्थात्, स्वतःसिद्ध, शाश्वत और स्वयं रक्षित निज ज्ञायकस्वरूप को नहीं पकड़े और तद्‌रूप परिणमित नहीं हो तो वह ज्ञेय-मूढ़ गँवार ही रहता है। जो-जो बाहर का जानता है, उसमें तल्लीन हो जाता है; मानो ज्ञान और आनन्द बाहर से आते हों - ऐसे भाव का वेदन किया करता है।

**शास्त्राभ्यास इत्यादि का प्रयोजन तो ज्ञानानन्दस्वरूप निज आत्मा की प्रतीति/अनुभूति करके आत्म-आराधना करना है। जिस ज्ञान के द्वारा आत्म-आराधना नहीं सधती, वह ज्ञान आत्मा को क्या शरण देगा ? जो ज्ञान, आत्मनिमग्न होता है, ज्ञायक की आराधनारूप परिणमित होता है, वही अन्तरङ्ग की सच्ची शान्ति और समाधि देगा, वह एक ही आत्मा को शरणभूत होगा।**

भगवान आत्मा, जैसे सहज दर्शन और सहज ज्ञानस्वरूप है, वैसे ही सहज चारित्र; अर्थात्, अकषाय वीतराग शान्तिस्वरूप भी है; शक्तिरूप से सदा शान्तिस्वरूप है ही परन्तु पर्याय में शान्ति की व्यक्तता या प्रगटता स्वभाव तरफ का झुकाव करने से होती है। कहा भी है —

**घट-घट अन्तर जिन वसै, घट-घट अन्तर जैन।**
**मत मदिरा के पान सौं, मतवाला समुझे न॥**

निज ज्ञायकप्रभु जिनस्वरूप; अर्थात्, शान्तिस्वरूप ही है। उसके सन्मुख होकर, उसका आश्रय ग्रहण करके, यदि अन्तरङ्ग में से शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे शरण देगी। अन्य सब सगे-सम्बन्धी, वैद्य-डाक्टर, दवा-सेवा इत्यादि का लक्ष्य

छोड देना। मरण तो आनेवाला ही है। देह तो छूटने के काल में छूटना ही है। इस भव में ही देह छूट जाएगी; इसलिए स्वयं रक्षित और शाश्वत निज ज्ञायकतत्त्व में से शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे नित्य शरण देगी।

अरहन्ते शरणं, सिद्धे शरणं, साहू शरणं, केवलीपण्णत्तं धम्मं शरणं – यह भी परमार्थ शरण नहीं हैं, व्यवहार से हैं। उनको व्यवहार से भी शरण कब कहा जाता है? कि जब तू शान्ति का सागर, शान्ति के पर्वत निज आत्मा में एकाग्रता करके वर्तमान पर्याय में अतीन्द्रिय शान्ति प्रगट करे, तब।

मरण के काल में माङ्गलिक सुनाने का भाव भी शुभराग है। भाई! सुनने–सुनाने का राग भी छोड़ दे और अन्तरङ्ग में शान्ति के नाथ को देख! उस ओर दृष्टि करके अन्तरङ्ग में से शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे शरण देगी। अरहन्त परमात्मा आदि कोई तुझे शरण नहीं देंगे।

**प्रश्न – 'वह एक ही तुझे शरण देगी' – क्या इसमें एकान्त नहीं हो जाता? कथञ्चित् भगवान का स्मरण भी शरण देगा – ऐसा कहो न।**

**उत्तर** – भाई, ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की जो आराधना है, वह एक ही शरण देगी; अन्य अरहन्त आदि बाह्य पदार्थ नहीं – यही अस्ति–नास्ति स्वरूप वास्तविक अनेकान्त है। अन्दर भगवान ज्ञायक अतीन्द्रिय शान्ति का पिण्ड है, उसमें एकाग्रता करना ही जीव को शरण है; जो दया, दान, इत्यादि शुभभाव होते हैं, वे शरण नहीं हैं; वे तो राग हैं, उससे पुण्य के परमाणु बँधेंगे। परन्तु प्रभु! उसमें तुझे शरण क्या आया? सम्यग्दृष्टि को दर्शनविशुद्धि आदि शुभभाव होकर तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध होता है, उसमें; अर्थात्, उस शुभराग में उसे क्या शरण आया? दृष्टि का विषय जो सहज ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाल शुद्ध ध्रुव चैतन्यप्रभु है, उसमें एकाग्र होकर यदि पर्याय में शान्ति प्रगट की होगी तो वह एक ही तुझे शरण देगी।



**इसलिए अभी से आत्म आराधना का प्रयत्न कर। वर्तमान में ही उसकी शुरुआत कर। 'फिर करूँगा, फिर करूँगा' — ऐसा वायदा छोड़ दे। लोक में कहावत भी है न कि 'आज, आज भाई अभी और कल, कल भाई, कल।' कल कभी आएगा नहीं और काम कभी होगा नहीं।**

प्रवचनसार में आता है कि '**स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक सम्पूर्ण शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके, आज ही जीव परमानन्द परिणामरूप परिणमो... उस चित्स्वरूप आत्मा को आज ही अनुभव करो।**'

हे भाई! राग से भिन्न निज भगवान आत्मा की अनुभूति का उद्यम अभी से कर। मरण आएगा, तब वह उद्यम करूँगा — ऐसा वायदा मत कर।

समयसार की पाँचवी गाथा में कहा है कि '**जदि दाएज्ज पमाणं**'; अर्थात्, उस एकत्व–विभक्त शुद्ध आत्मा को दर्शाऊँ तो प्रमाण करना; सुनकरमात्र, हाँ–हाँ करना – ऐसा नहीं, परन्तु उसे स्वानुभव प्रत्यक्ष करके, उसकी अनुभूति करके प्रमाण करना।

अहा! दिगम्बर सन्तों की सचोट भाषा तो देखो! भगवान आत्मा आनन्द का सागर है, उसका अनुभव प्राप्त करने के लिए अभी से प्रयत्न कर।

**प्रश्न – अभी से ही ? मौत आवे, तब नहीं ?**

**उत्तर** – अभी से ही प्रयत्न कर। घर जले, तब यदि कुआँ खोदे तो पानी कब निकले और कब आग को बुझावे, पानी निकले तब तक तो घर जल कर राख हो जाएगा। घर को आग से बचाना हो तो पहले से ही पानी की व्यवस्था रखना चाहिए। इसी प्रकार मौत आए तब नहीं, अपितु पहले से ही अर्थात् **अभी से ही आत्मा की आराधना शुरु करने और आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न कर। जब से सुना हो, तभी से प्रयत्न प्रारम्भ कर दे।**

अहा! दिगम्बर सन्तों की वाणी पञ्चम काल के अत्यन्त अप्रतिबुद्ध श्रोताओं से कहती है कि **भाई! आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए अभी से शुरुआत कर दे।** समयसार की 38 वीं गाथा की टीका में कहा है कि विरक्त गुरु से निरन्तर समझाये जाने पर, दर्शन–ज्ञान–चारित्रस्वरूप परिणत होकर जो सम्यक् प्रकार से एक आत्माराम हुआ है, वह श्रोता / शिष्य कहता है कि कोई भी परद्रव्य, परमाणुमात्र भी मुझरूप भासित नहीं होता, जो मुझे भावकरूप तथा ज्ञेयरूप होकर फिर से मोह उत्पन्न करे, क्योंकि निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर, फिर से अंकुरित न हो — ऐसा नाश करके, महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है।

अहा! पञ्चम काल का अप्रतिबुद्ध शिष्य, प्रतिबोध प्राप्त करके कहता है कि हमको प्रगट हुआ ज्ञानप्रकाश अप्रतिहत है, भले ही क्षायोपशमिक भावरूप है तो भी अप्रतिहत होने से **'जोड़नी क्षायिक'** है; इसलिए हमें पुनः मिथ्यात्व का अंकुर उत्पन्न होगा ही नहीं।



**अरे! मौत आने पर यह देह, कुटुम्ब का मेला, धन, मकान, गाड़ी, वाड़ी इत्यादि सब छूट जाएगा। कोई दुःख की बेला में सहायक नहीं होगा। देह की स्थिति पूरी होने के नगाड़े बज रहे हैं। मौत अचानक आ जाएगी, नोटिस देकर नहीं आएगी।**

देह का संयोग अनित्य है और भगवान आत्मा, ध्रुव नित्य तत्त्व है। आत्मा का कभी नाश नहीं होता, देह और आत्मा स्वभाव से तो भिन्न ही हैं; मात्र निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण पर्याय अपेक्षा से एकक्षेत्रावगाहरूप साथ रह रहे हैं। वस्तुतः तो वे दोनों अपने–अपने स्वक्षेत्र में ही रहते हैं। आकाश के एक क्षेत्र में जो दोनों साथ रह रहे हों, उनके पृथक् होने को मौत कहते हैं। **मृत्यु जरूर आनेवाली है, ऐसा बारम्बार याद करके तू भी अन्तरङ्ग में स्वसन्मुखता का पुरुषार्थ कर कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' — ऐसी सावधानी में तू समाधिपूर्वक मरण कर सके।**

निज त्रिकाल शुद्ध चैतन्य भगवान तो सदा अमर ही है। देह के सम्बन्ध की स्थिति पूर्ण होने की अपेक्षा मरण कहते हो तो भले कहो, परन्तु अनादिनिधन सत् ज्ञायकप्रभु की स्थिति कभी पूर्ण नहीं होती, वह तो सदा अमर है।

**'सिर पर मौत के नगाड़े बज रहे हैं, सिर पर मौत मँडरा रही है'** – ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू भी सदा उस अमर निज शुद्धात्मतत्त्व के प्रति उग्र आलम्बन का जोरदार पुरुषार्थ कर, जिससे **'अब हम अमर भये, न मरेंगे' – ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देह त्याग कर सके। मरण के समय कदाचित्**

**निर्विकल्प शुद्धोपयोग न भी हो; भले ही विकल्प हो, परन्तु स्वभाव के आश्रय से परिणति में प्रगट हुई जो सतत वर्तती शुद्धि की धारा है, वह एकाग्रता और समाधि ही है।**

ज्ञानी को दृष्टि-अपेक्षा और जितनी स्वरूप स्थिरता है, उसकी अपेक्षा निर्विकल्पधारा सतत वर्त रही है परन्तु देह छूटने के समय उपयोग निर्विकल्प ही हो, उपयोग में विकल्प का अंश भी न रहे - ऐसा नहीं है। विकल्प हो, परन्तु अन्तर में स्वभाव के आश्रय से परिणति में प्रगट हुई साधना ही एकाग्रता है; इसलिए **मरणकाल में उसका समाधिपूर्वक देह छूटेगा। ज्ञानियों को ख्याल में है कि यद्यपि देह छूटने के प्रसङ्ग में ऐसे विकल्प भाते हैं, तथापि उन्हें अन्तरङ्ग में समाधि है।**

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि '**मुनिजनों को स्त्री आदि का परीषह होने पर वे उसे जानते ही नहीं, मात्र अपने स्वरूप का ही ज्ञान करते रहते हैं - ऐसा मानना मिथ्या है। वे उसे जानते तो हैं परन्तु रागादिक नहीं करते।**'

इस प्रकार ज्ञानियों को मरणकाल में विकल्प होने पर भी अन्तरङ्ग में वीतरागभाव होने से समाधिपूर्वक देह छूटती है। अहा! ऐसी सूक्ष्म बाते हैं।

श्रीमद् राजचन्द्र ने भी अपने अन्त समय में अपने छोटे भाई से कहा था - 'मनसुख! माँ को चिन्तातुर मत होने देना। **अब, मैं स्वरूप में लीन होता हूँ।**' स्वरूप की दृष्टि और अनुभव तो है परन्तु माँ को चिन्ता न हो - ऐसा विकल्प आया, फिर थोड़ी देर में देह छूट गया।



**प्रश्न - कोई ज्ञानी, मरण के काल में बेसुध हों अथवा बकवास कर रहे हों तो भी क्या उन्हें समाधि होती है ?**

**उत्तर** - कदाचित् ज्ञानियों को इन्द्रिय-निमित्तक ज्ञान में किञ्चित् फेरफार हो जाए, जरा उन्माद या बेसुधपना हो जाए, तथापि **उनके अन्दर ज्ञानधारा सतत वर्तती होने से, समाधि है।**

समाधिशतक में आता है कि भेदज्ञानी अन्तरात्मा निद्रा अवस्था में अथवा उन्मत्त अवस्था में होने पर भी कर्म-बन्धन से मुक्त होते हैं अर्थात् विशिष्टरूप से कर्मों की निर्जरा करते हैं। अहा ऐसी वस्तुस्थिति है। भाई! अन्दर में स्वसन्मुखता का ऐसा जोरदार पुरुषार्थ कर, जिससे '**अब हम अमर भये न मरेंगे' — ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।** ●

*( - वचनामृत प्रवचन, गुजराती, भाग 4, पृष्ठ 338-345 )*

## मुनिराज को पूर्ण शुद्धता की ही भावना

अहा! मुनिराज को बहुत शुद्धता तो हुई है परन्तु अभी किञ्चित् कषाय-कण से परिणमन में मलिनता है, वह सुहाती नहीं है; इसलिए उसका नाश करके पूर्ण शुद्धता की भावना है और वह पूर्ण शुद्धता मेरे शुद्ध चिन्मात्रस्वभाव के घोलन से ही होगी - ऐसा भान है। विकल्प का तो नाश करना चाहते हैं, तब वह विकल्प शुद्धता का साधन कैसे हो सकता है ? शुद्धता का साधन विकल्प नहीं होता, शुद्धस्वभाव की घोलन ही शुद्धता का साधन है। *( आत्मधर्म, गुजराती, वर्ष 25, अङ्क-12, पृष्ठ - 6 )*

# 31. मृत्यु सूचना देकर नहीं आती

***जिस प्रकार वटवृक्ष की जटा पकड़कर लटकता हुआ मनुष्य मधुबिन्दु की तीव्र लालसा में पड़कर, विद्याधर की सहायता की उपेक्षा करके, विमान में नहीं बैठता; उसी प्रकार अज्ञानी जीव, विषयों के कल्पित सुख की तीव्र लालसा में पड़कर, गुरु के उपदेश की उपेक्षा करके शुद्धात्मरुचि नहीं करता अथवा 'इतना काम और कर लूँ, इतना काम और कर लूँ' – इस प्रकार प्रवृत्ति के रस में लीन रहकर, शुद्धात्मप्रतीति के उद्यम का समय नहीं पाता।***

*इतने में मृत्यु का समय आ पहुँचता है, फिर 'मैंने कुछ किया नहीं, अरे रे! मनुष्यभव व्यर्थ चला गया' इस प्रकार वह पछताता है, तथापि किस काम का ? मृत्यु के समय उसे किसकी शरण है ? वह रोग, वेदना, मृत्यु, एकत्वबुद्धि और आर्तध्यान की चपेट में आकर देह छोड़ता है तथा मनुष्यभव हारकर चला जाता है।*

*धर्मी जीव, रोग, वेदना या मृत्यु की चपेट में नहीं आता, क्योंकि उसने शुद्धात्मा की शरण प्राप्त की है। विपत्ति के समय वह आत्मा में से शान्ति प्राप्त कर लेता है। विकट प्रसङ्ग में वह निज शुद्धात्मा की शरण विशेष लेता है। मरणादि के*



*समय धर्मी जीव, शाश्वत ऐसे निज सुखसरोवर में विशेष-विशेष डुबकी लगाता है; जहाँ रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है; शान्ति की अखूट निधि है। फिर वह शान्तिपूर्वक देह छोड़ता है, उसका जीवन सफल है।*

*तू मरण का समय आने से पहले चेत जा, सावधान हो, सदा शरणभूत – विपत्ति के समय विशेष शरणभूत होनेवाले – ऐसे शुद्धात्मद्रव्य को अनुभवने का उद्यम कर।*

***(– बहनश्री के वचनामृत, 409)***

शास्त्र में दृष्टान्त आता है कि वटवृक्ष की जटा को पकड़कर एक मनुष्य लटक रहा है, उसके सिर के ऊपर वटवृक्ष की डाल पर मधुमक्खी का छत्ता है, उसमें से शहद की एक-एक बूँद थोड़ी-थोड़ी देर में टपकती है; नीचे मुँह फाड़े हुए भयङ्कर अजगर और सर्पों से युक्त महा अन्धकूप है। वृक्ष की उस शाखा को सफेद और काला चूहे काट रहे हैं, उस समय कोई विद्याधर अपने विमान में बैठकर वहाँ से निकलता है और करुणा से कहता है —

'भाई! अभी यह डाल कट जाएगी और तू भयङ्कर अन्धकूप में अजगर के मुख में पड़कर मर जाएगा; यदि तुझे बचना हो तो आ, मेरे विमान में बैठ जा!'

परन्तु वह मूर्ख मनुष्य, अभी एक बूँद और.....एक बूँद और — इस प्रकार मधुबिन्दु की तीव्र लालसा में पड़कर, विद्याधर की मदद को अस्वीकार करके, विमान में नहीं बैठता — यह तो दृष्टान्त हुआ।

इसी प्रकार अज्ञानी मोही जीव, विषयों के कल्पित सुख की तीव्र लालसा में पड़कर; अर्थात्, शरीर के स्पर्श में विषय की

वासना का सुख; रस में मैसूरपाक इत्यादि खाने-पीने का सुख; गन्ध में इत्र-फूल इत्यादि सुगन्ध का सुख; रूप में शरीर की सुडौलता आदि देखकर उसकी सुन्दरता का सुख इत्यादि पाँच इन्द्रियों के मनवाञ्छित विषयों में सुख मानकर, उनके लालच में पड़कर दुःखी रहता है।

विषय तो जड़-अचेतन-धूल हैं; उनमें जरा भी सुख नहीं है। सुख तो शरीर, इन्द्रिय और विषय से भिन्न तथा उन सम्बन्धी वासनाओं से भी भिन्न निज आत्मा में है - ऐसे गुरु के उपदेश को अस्वीकार करता हुआ, सुखसागर निज शुद्धात्मा की रुचि नहीं करता।

प्रभु! विषयों में क्या सुख है? विषय तो पर चीज हैं, क्या तू उन्हें प्राप्त कर सकता है? भोग सकता है? वास्तविकता तो यह है कि 'यह विषय ठीक हैं, आनन्द देते हैं' - ऐसा राग करके, तू अपने राग को भोगता है। यदि तुझे इस दुःखमय भयङ्कर संसार से छूटना हो तो अन्तरङ्ग में सुखनिधान निजशुद्धात्मा पर नजर कर, उसे ही ग्रहण कर।

गुरु कहते हैं - प्रभु! तू राग के सुख से भिन्न है, विषयानुराग में जरा भी सुख नहीं, किन्तु एकान्त दुःख ही है। तुझे शरीर के भोग में राग का सुख लगता है; शरीर तो हाड़-माँस का पिण्ड है, जड़-अचेतन है; उसमें सुख नहीं होने पर भी भ्रमवश अज्ञानी उसमें सुख मानकर, अपने रागभाव को करता और भोगता है।

जिस प्रकार शराबी मनुष्य को श्रीखण्ड का स्वाद, गाय के दूध जैसा लगता है; उसी प्रकार जिसने भ्रान्तिरूप शराब पी है - ऐसे



अज्ञानियों को विषयों और राग में सुख लगता है; अन्दर भगवान आत्मा में विषयातीत अतीन्द्रिय सुख भरा है, वहाँ वह नजर नहीं करता। भाई! तूने गुरु के उपदेश की अस्वीकृति की है, मरकर तू कहाँ जाएगा? अरे रे! चींटी, कौआ और कुत्ते का यह अवतार! अहो! यह तो एक बार संसार का हर्ष और उत्साह टूट जाए - ऐसी बात है। प्रभु! हर्ष और उत्साह तो अन्दर आनन्दस्वभावी निज आत्मा में करने जैसा है।

दो-पाँच करोड़ रुपये हुए हों, पुत्र का विवाह हो, विवाह में पाँच-दश लाख रुपया खर्च करना हो तो फिर देखो! मानो पागल...पागल! अरे प्रभु! तू यह क्या करता है? ये सब तो बाहर के पुण्य का कार्य है, इसमें कहीं सुख नहीं है। **त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वरूप निज शुद्धात्मवस्तु की अन्तरङ्ग रुचि, दृष्टि और अनुभूति करना ही धर्म और सुख का साधन है।**

भाई! मरण इस भव में ही आयेगा और वह भी अकस्मात् आयेगा। 'मैं आता हूँ, तैयार रहना' - ऐसा समाचार देकर नहीं आयेगा। अचानक ही काल तेरा जीवन झपट लेगा; इसलिए 'आत्मा का हित फिर करूँगा, पहले इतने काम कर लूँ, लोगों को समझाता जाऊँ' - ऐसी बाहर की प्रवृत्ति छोड़ दे और आत्मा को समझने के लिए अन्तरङ्ग में सत्समागम, सत्वाँचन और सद्विचार द्वारा उद्यम कर!

अज्ञानी जीव, बाहर की प्रवृत्ति के रस में रचा-पचा रहकर 'आत्मा को समझने को प्रयत्न फिर करूँगा, फिर करूँगा'- ऐसा वायदा करके इस दुर्लभ मनुष्य जीवन को गँवा देता है। करूँगा-

करूँगा में रह जाता है। इतने में आयुष्य पूर्ण होने का काल आ जाता है।

ऐसा मूल्यवान मनुष्यभव प्राप्त हुआ, सच्चे गुरु और सत्य सुनने का अवसर प्राप्त हुआ; गुरु ने समझाया – 'तू; अर्थात्, भगवान आत्मा, ज्ञान और आनन्द आदि अनन्त गुण-सामर्थ्य से भरपूर, एक, स्वतःसिद्ध, स्वाधीन और परिपूर्ण वस्तु है, अन्तरङ्ग में उसकी दृष्टि प्रतीति और रुचि कर!'

'अरे रे! मैंने समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया।'

भाई! जब समझने का काल था, तब तो कुछ किया नहीं और फिर यह दुर्लभ मनुष्यभव ऐसे ही चला गया। इस प्रकार मरण के समय अफसोस करे तो भी किस काम का?

एक तो संसार के व्यापार-धन्धे और विषय-कषायों के काम से निवृत्त नहीं होता। कदाचित् वहाँ से थोड़ा समय निकाले तो धर्म के नामवाली प्रवृत्तियों से; अर्थात्, पूजा, व्रत, तप, वाँचन, श्रवण, इत्यादि बाह्य क्रियाओं से निवृत्त नहीं होता और तभी मृत्यु का समय आ पहुँचता है। फिर मृत्यु के समय पश्चाताप करे कि मैंने आत्मा का कुछ नहीं किया, मनुष्यभव व्यर्थ गँवा दिया तो भी किस काम का?

पूर्णानन्द के नाथ निज त्रिकाल शुद्ध भगवान आत्मा में शरीर, वाणी और स्त्री, पुत्र आदि परद्रव्य तो हैं ही नहीं, परन्तु रागादि सांसारिक विभाव; अर्थात्, समस्त शुभाशुभ विकारीभाव भी उसका (आत्मा का) स्वभाव नहीं हैं। अरे रे! औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकपर्याय भी उसका परमभाव; अर्थात्, सहजस्वभाव नहीं है।



ऐसे निज भगवान आत्मा की रुचि, प्रतीति, समझ और अनुभूति करना चाहिए, वह नहीं की; उसके उद्यम का समय निकालना चाहिए, वह नहीं किया और स्त्री, पुत्र, परिवार, गाँव, समाज, देश के काम में आ पड़ा, उसी में एकाकार होकर जिन्दगी बर्बाद कर दी; फिर 'अरे रे! मैंने अपनी आत्मा का कुछ नहीं किया' – ऐसा दुःखी होकर पछताये तो भी किस काम का? जिन्दगी में जैसे परिणाम किये होंगे, तदनुसार चार गतियों में भटकना पड़ेगा।

दुनिया में मान-सम्मान मिले, सेठ-पद मिले, पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये इकट्ठा करे, दो-पाँच कारखाने लगाये और बड़ा उद्योगपति कहलाये, परन्तु भाई! इसमें तेरा क्या बढ़ा? पाप करके तुझे मरकर कहाँ जाना हैं? अहाहा....! जिसकी महत्ता के आगे, सिद्धपर्याय की महत्ता भी अल्प है, गौण है – ऐसा अपना त्रिकाली पूर्णानन्द सागर चैतन्य द्रव्यस्वभाव की समझ और रुचि के लिए समय नहीं निकाला; बाहर में व्रत, नियम, भक्ति, पूजा इत्यादि में धर्म मानकर रुक गया, परन्तु वह शुभभाव तो राग है, आत्मा का शुद्धभावरूप धर्म नहीं है।

भाई! धर्म की शुरुआत तो सम्यग्दर्शन से ही होती है। अहो! सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक चीज है! अन्दर अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का ध्रुवदल, त्रिकाल शुद्ध चैतन्य ज्ञायकप्रभु की दृष्टि और रुचि करने का समय नहीं निकाला, और यों ही जिन्दगी गँवा दी। मरण का समय आने पर अन्त में 'मैंने आत्मा का कुछ नहीं किया। अरे रे! यह मूल्यवान मानवभव विषयों और बाहर की प्रतिष्ठा में व्यर्थ ही चला गया।' इस प्रकार पश्चाताप करना भी किस काम का?

महीने–महीने के उपवास आदि तपश्चरण करे, लोग महिमा करें और विशाल शोभायात्रा निकालें, परन्तु भाई! उसमें तेरी क्या महिमा है? यदि तपस्या में कषाय मन्द की हो तो वह शुभराग की क्रिया है; धर्म नहीं। अन्दर एक समय में परिपूर्ण पूर्णानन्द का नाथ निज ज्ञायक परमभाव शुद्ध चैतन्य प्रभु में, संसार का राग अथवा धर्म कहा जानेवाला व्रतादि का शुभराग तो नहीं है, किन्तु औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावरूप वीतरागधर्म की वर्तमान निर्मलपर्याय जितना भी वह नहीं है।

ऐसे त्रिकाली ज्ञानानन्द अनादि–अनन्त सामर्थ्य से भरपूर भगवान आत्मा की समझ, रुचि, प्रतीति और श्रद्धा के लिए समय नहीं निकाला और ऐसे ही संसार के कार्यों में अथवा धर्म के नाम पर व्रत, भक्ति आदि में यह दुर्लभ मनुष्यभव गँवा दिया।

संसार में पाप प्रवृत्ति के कारण निवृत्त नहीं हुआ; 'आत्मप्राप्ति फिर करूँगा' – ऐसे वायदों में आयु पूर्ण होने का काल आ गया, फिर पछताने से भी क्या हो सकता है? मरण के समय तुझे कौन शरण है? बापू! देह छूटने के समय किसकी शरण है? त्रिकाल शरणभूत निज चैतन्य प्रभु ज्ञायक परमात्मा को तो अन्तरङ्ग में पहचाना नहीं और बाहर में शरण के लिए झपट्टा मारता है परन्तु बाहर में किसकी शरण है?

जिन्दगी भर पाप करके कमायी हुई लक्ष्मी का सामने ढेर करे और स्त्री, पुत्र, परिवार को सामने इकट्ठा करके पुकार करे कि 'मैंने तुम्हारे लिए इतना समय बर्बाद किया है, तुम्हारे लिए पाप किया है, तुम्हारे लिए अपनी सारी जिन्दगी बर्बाद कर दी है, अब तो मुझे मदद करो, कोई मुझे शरण दो', परन्तु कौन शरण दे सकता है?



विषयों के लिए पागल होकर जिन्दगी गँवा दी और फिर मरण के समय तीव्र आर्तध्यान करता है, परन्तु उससे क्या प्राप्त हो सकता है? अरे रे! मरण के समय कदाचित् 'भगवान.... भगवान...' करे, पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करे, परन्तु अन्तरङ्ग में सदा शरणभूत निज ज्ञायक भगवान को गुरुगम से पहचाना न हो, उसकी रुचि –प्रतीति–श्रद्धा नहीं की हो तो प्रभु–स्मरण का शुभराग भी कहाँ शरण दे सकता है?

भले ही करोड़ों रुपये इकट्ठे हुए हों, पचास–पचास लाख (आज के हिसाब से पाँच–दश करोड़) के राजमहल जैसे बँगले बनाये हों, पाँच–पाँच लाख (आज के हिसाब से पचास –पचास लाख) की कीमती मोटर गाड़ियाँ हों, नौकर–चाकर इत्यादि सब राजसी ठाट–बाट हों, परन्तु उससे क्या? यह सब वैभव छोड़कर मरण की पीड़ा से पीड़ित होकर यह अज्ञानी जीव, मनुष्यभव हारकर चला जाता है; पशु और नरकगति में परिभ्रमण करता है।

आत्मा स्वभाव से पूर्ण ज्ञानानन्द भगवान होने पर भी भिखारी की तरह भीख माँगता है कि मुझे यह दो, प्रतिष्ठा दो, कोई मुझे बड़ा मानो, परन्तु भाई! तेरी महत्ता तो अन्तर सच्चिदानन्द ज्ञायकप्रभु अतीन्द्रिय आनन्द के दल निज चैतन्य–निधान में है। आनन्द–निधान निज ज्ञायक भगवान सदा शरणभूत है। उसकी दृष्टि करना चाहिए, वह नहीं की और बाहर के दया, दान, व्रत, भक्ति में; अर्थात्, विकार में दृष्टि करके वहीं अटक गया। भाई! वह विभावपरिणाम है, राग है; उसमें कहीं शरण नहीं है; वह विकार तो भव का कारण और संसार है।

अहाहा.... ! पुण्य और पाप के भाव से भिन्न त्रिकाल शुद्ध निज ज्ञायक भगवान आत्मा की शरण नहीं ली, उसे नहीं पहचाना, उसकी महिमा नहीं की और राग व पुण्य की महिमा करके चौरासी के अवतार करके मर गया। दुर्लभ मनुष्यभव हारकर भववन में भटकने चला गया।

जिसे अन्तरङ्ग में आनन्दसागर भगवान आत्मा की दृष्टि और रुचि हुई है; जिसे शरीर-मन-वाणी, कुटुम्ब-कबीला; अरे! पुण्य-पाप के समस्त विभाव आदि मैं नहीं हूँ - ऐसे अन्तरङ्ग अनुभवसहित प्रतीति हुई है, वह जीव, धर्मी है। '**सिद्ध समान सदा पद मेरो**' - इस न्याय से सभी आत्मा, स्वभाव से सिद्ध भगवान जैसे हैं। यदि स्वभाव से भगवान न हों तो प्रगटदशा में भगवानपना कहाँ से आएगा? भगवानपना क्या बाहर से आता है?

अहाहा! अध्यात्म की यह गहरी बातें, बाह्य प्रवृत्ति के रसिक जीवों को कठोर लगती हैं। जिसे अन्तरङ्ग में राग की और पर्याय की रुचि छूट गयी है और पूर्णानन्द प्रभु भगवान आत्मा की दृष्टि और अनुभूति हुई है, उसको धर्मी कहते हैं। जैसे, नारियल में अन्दर गोला भिन्न होता है; उसी प्रकार धर्मी जीव को राग व शरीर से आत्मगोला भिन्न दिखता है; अर्थात्, अनुभव में आता है। जिसके श्रद्धा-ज्ञान-अनुभव में चैतन्यप्रभु पर से भिन्न आ गया है; वह धर्मी जीव, रोग, वेदना अथवा मरण की पीड़ा से पीड़ित नहीं होता; क्योंकि उसने अशरीरी, अतीन्द्रिय, निज शुद्ध ज्ञायक परमभाव की शरण प्राप्त कर ली है।



**अहाहा! वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग अलौकिक है!**

धर्मी जीव उसे कहते हैं, जो '**अन्तर की लच्छी सौं अजाची लक्षपति हैं**'; अर्थात्, जिनको अन्तरङ्ग में अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान की लक्ष्मी दिखी है, आंशिक अनुभव में आयी है; वह अब बााहर में नहीं देखता कि मुझे अब पैसा मिले अथवा धूल मिले।

**दास भगवन्त के उदास रहें जगत सौं;**
**सुखिया सदैव ऐसे समकिती हैं।**

वीतराग दिगम्बर सन्त श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निज भावना के लिए नियमसार शास्त्र की रचना की है। उसमें वे कहते हैं — ज्ञायक कारणपरमात्मा, शरीर आदि परद्रव्यों से तो भिन्न है ही परन्तु जो रागादि विभाव होते हैं, वह भी उसका स्वभाव नहीं है और प्रगट होनेवाली क्षायिकभाव आदि निर्मल पर्याय भी उसका त्रिकाली सहजस्वभाव नहीं है। अरे! ऐसा मार्ग!! ऐसा तो अन्य कहीं सुनने को भी नहीं मिलता। जहाँ जाओ, वहाँ 'सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण, भक्ति इत्यादि करो, यह करो और वह करो', - ऐसा सुनने को मिलता है परन्तु यह सब तो राग की क्रियाएँ हैं; आत्मा का स्वभाव नहीं है।

**शुद्ध चेतना-सिन्धु हमारो रूप है।**

***अर्थात्,*** *आत्मा का स्वरूप तो समस्त शुभाशुभराग और क्रिया से रहित शुद्ध चेतनामय है, उसका अवलम्बन लेकर, जिसे पर्याय में उसकी प्रतीति और अनुभूति हुई है, वह ज्ञानी जीव, रोग, वेदना अथवा मरण की पीड़ा से पीड़ित नहीं होता; क्योंकि उसने निज*

*शुद्धात्मा; अर्थात्, ज्ञायक परमात्मा की शरण प्राप्त की है। विपत्ति के समय वह आत्मा में से शान्ति प्राप्त कर लेता है।*

*जिसे शान्ति का सागर भगवान आत्मा दृष्टि और अनुभव में आया है, वह धर्मी, जीव प्रतिकूलता के भीषण घेराव में; अर्थात्, कठिन रोग और भयङ्कर उपसर्गों में भी अन्दर आत्मा में से शान्ति ले लेता है। अहो! ऐसी बात पहले नहीं सुनी होने से लोगों को कठिन लगती है। सम्मेदशिखर, गिरनार अथवा शत्रुञ्जय की यात्रा करने के लिए कहो तो सबको समझ में आता है परन्तु भाई! उसमें समझने जैसा क्या है? वह तो शुभराग की बात है। शुभराग, आत्मा का स्वभाव नहीं है। गजब बात है! कैसी भी भयङ्कर विपत्ति के समय ज्ञानी धर्मात्मा, आत्मा का भान और संवेदन होने से आत्मा में से शान्ति प्राप्त कर लेते हैं।*

इस देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा, शाश्वत नित्य है, अनादि-अनन्त है; वह कहीं सर्वथा नया उत्पन्न नहीं हुआ है अथवा उसका सर्वथा नाश नहीं होता, उस शाश्वत वस्तु में सुख ही सुख भरा है।

**धर्मी जीव, सुखसरोवर निज शाश्वत शुद्धात्मा में मरण आदि विकट अवसरों पर विशेष-विशेष डुबकी मारता है। कैसा है सुखसरोवर?** - जहाँ किसी प्रकार का रोग नहीं है, वेदना नहीं है, मरण नहीं है, शान्ति का अटूट खजाना है। अरे! उसका विश्वास कैसे आए? गुरुगम से अन्तरङ्ग में देखे और जाने कि यह आत्मा तो आनन्द का सागर है तो पर्याय में आंशिक आनन्द अनुभव में आने पर, 'यह आत्मा सम्पूर्ण अटूट आनन्द का महासागर है' - ऐसा प्रतीति में आता है।



**जिसने शान्ति की अक्षयनिधि को देखा है; वह धर्मी जीव, देह छूटने के समय शान्ति, शान्ति, शान्तिपूर्वक अन्तरङ्ग में आनन्द के नाथ की शरण लेकर स्वरूप में विशेष-विशेष डुबकी मारता है। जिसने आनन्द के नाथ निज ज्ञायकभाव का अनुभव किया और मरण के समय निज आनन्द सरोवर में लीन होकर शान्तिपूर्वक देह का परित्याग किया, उसका जीवन और उसकी साधना, वास्तव मे सफल है; वह एक-दो भव में केवलज्ञान लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा।**

भाई! यह मनुष्य अवतार प्राप्त हुआ है, कल्याण करने का अवसर प्राप्त हुआ है; इसलिए तू मरण का समय आने से पहले ही चेत जा! सावधान हो जा!! सदा शरणभूत निज शुद्धात्मद्रव्य के अनुभव का प्रयत्न कर! निज ज्ञायक भगवान आत्मा ही वास्तव में शरण है। '**अरहन्ते शरणं पव्वज्जामि, सिद्धे शरणं पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि, केवलि पण्णत्तं धम्मं शरणं पव्वज्जामि**' - यह तो विकल्प है, शुभराग है।

अरहन्त इत्यादि परद्रव्य तो इस आत्मा को परमार्थ से शरणभूत नहीं हैं परन्तु वीतरागधर्म भी पर्याय होने से सदा शरणभूत नहीं है। सदा शरणभूत तो त्रिकाल शुद्ध परमानन्द का पिण्ड निज भगवान आत्मा ही है। भगवान आत्मा, साधक परिणति को तो सदा शरणभूत है ही परन्तु विपत्ति के समय भी विशेष शरणभूत होता है। भाई! शरणभूत निज शुद्धात्मद्रव्य को अनुभव में लेकर उसका वेदन कर।

**इस प्रकार यहाँ यह कहना है कि तू देह छूटने का अवसर आने से पूर्व ही अन्तरङ्ग में चेत जा! सावधान हो जा!! सदा शरणभूत और सङ्कट के समय विशेष शरणभूत होनेवाले आनन्दनिधान निज शुद्धात्मद्रव्य के अनुभव का शीघ्र उद्यम कर!!! ●**

*( - वचनामृत प्रवचन, भाग-4, गुजराती, पृष्ठ 299-311 से अनुवादित विशिष्ट अंश )*

### आधि-व्याधि-उपाधिरहित दशा ही समाधि

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिसहित आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर मुनिपना प्रगट होता है। अहा! मुनिराज तो समाधिपरिणत होते हैं, आधि-व्याधि और उपाधि से तीनों काल मुक्त, शान्त और वीतराग समाधिस्वरूप निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणति में आधि-व्याधि और उपाधिरहित जो निराकुल शान्त और वीतरागदशा हुई, उसे समाधि कहते हैं। मन में होनेवाले सङ्कल्प-विकल्प, वह आधि है; शरीर में होनेवाले रोग, वह व्याधि है और स्त्री-पुत्र अथवा व्यापार-धन्धे की जञ्जाल, वह उपाधि है - इन तीनों से रहित आत्मा की जो आनन्दमय दशा, वह समाधि है। मुनिराज ऐसी समाधिरूप परिणत हैं। बाहर से अकेला नग्नपना अथवा पञ्च महाव्रत इत्यादि के शुभपरिणाम, वह कोई परमार्थ मुनिपना नहीं है। जो सहजरूप से समाधिपरिणत हों, वही मुनि कहलाते हैं।

*( वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 204 )*

# 32. हे जीव! लाखों का एक-एक क्षण जा रहा है...

जो वन में एकाकी वास करते थे, आत्मा के आनन्द में झूलते-झूलते जिनका जीवन व्यतीत होता था, जिनके शरीर पर वस्त्र का ताना भी नहीं था, और जो एक पाई का भी परिग्रह नहीं रखते थे - ऐसे निस्पृह-वीतरागी सन्त की यह वाणी है; जीवों को परमहितरूप ऐसा यह उपदेश है। वे कहते हैं कि अरे जीव! प्रतिक्षण आयु घट रही है और तू बाह्य में लक्ष्मी आदि की वृद्धि के हेतु अपना समय गँवा रहा है, किन्तु आत्मा के ज्ञान-आनन्द की वृद्धि कैसे हो? - उसका तुझे विचार तक नहीं आता। अरे अविवेकी! तुझे अपने जीवन से भी अधिक प्यारी लक्ष्मी है! इसलिए तू लक्ष्मी के लिए जीवन गँवा रहा है? - धिक्कार है तेरी मूढ़बुद्धि को! **लाखों-करोड़ों रुपये देने पर भी इस मनुष्य जीवन का एक क्षण मिलना दुर्लभ है** - ऐसे जीवन को तू फूटी बादाम की भाँति व्यर्थ गँवा रहा है। हे वत्स! अपने हित के उपाय का विचार कर!

कोई ऐसा विचार करता है कि - 'इस समय तो लक्ष्मी एकत्रित लूँ, फिर उसका दानादि में उपयोग करके पुण्य उपार्जन

करूँगा' – यह भी मूढ़ जीव का विचार है। अरे जीव! पाप करके लक्ष्मी एकत्रित करने के बदले इसी समय ममत्व कम करके आत्महित का उपाय कर! दानादि के बहाने इस समय तो तू अपने ममत्व का पोषण कर रहा है। जैसे, कोई व्यक्ति ऐसा विचार करे कि पहले शरीर पर कीचड़ लपेट लूँ और फिर स्नान कर लूँगा – तो वह अविवेकी ही है; उसी प्रकार जो ऐसा विचार करता है कि 'भविष्य में दानादि करने के लिए वर्तमान में व्यापारादि करके पैसा इकट्ठा कर लूँ और फिर पात्र दानादि कार्यों से पाप धो डालूँगा' – तो वह भी अविवेकी है। वर्तमान में उसके जो पाप और लोभ के भाव की पुष्टि हो रही है, उसे वह नहीं देखता है।

अरे मूढ़! इस समय पाप करके फिर पुण्य करने को कहता है तो उसकी अपेक्षा इसी समय पापभाव छोड़कर, अपने उपयोग को आत्महित में एकाग्र कर न! कीचड़ लपेट कर फिर नहाने की अपेक्षा पहले से कीचड़ न लपेटना ही अच्छा है। उसी प्रकार इस समय पाप करके फिर पुण्य करेंगे – ऐसी विपरीत भावना के बदले, इसी समय पाप से निवृत्त होकर अपने चित्त को धर्म में युक्त कर न!

धर्मात्मा को पुण्य के प्रताप से सहज ही लक्ष्मी आदि की प्राप्ति हुई हो तो उसे वह पात्रदान, यात्रा, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा–महोत्सवादि में लगाता है, किन्तु 'मैं व्यय करने के लिए लक्ष्मी कमाऊँ' – इसमें तो ममत्व का पोषण है। यदि वास्तव में राग की मन्दता हो तो जो प्राप्त हुआ है, उसी में से ममत्व कम कर न!

जैसे, कोई जीव यह माने कि – 'केवली भगवान ने अपने अनन्त भव देखे होंगे तो एक भी भव कम नहीं होगा' – तो ऐसा



कहनेवाले की दृष्टि भव पर और भव के कारणरूप विकार पर ही पड़ी है, किन्तु केवलज्ञान के कारणरूप ज्ञायकस्वभाव पर उसकी दृष्टि नहीं है; वह केवली भगवान का नाम लेकर भी मात्र विपरीतदृष्टि का ही पोषण कर रहा है। उसी प्रकार जो जीव यह कहता है कि – 'भविष्य में दानादि द्वारा पुण्य करने के लिए मैं इस समय लक्ष्मी कमा लूँ' – तो वह भी पुण्य के बहाने मात्र ममत्व का ही पोषण कर रहा है, वास्तव में लक्ष्मी के प्रति उसका लोभ कम नहीं हुआ है। 'पाँच लाख मिले हैं, इन्हें बढ़ाकर दस लाख कर दूँ और फिर दान में व्यय करूँगा' – ऐसा कहता है, तो हे मूढ़! इस समय जो पाँच लाख हैं, उनमें से एक लाख का ममत्व कम कर! ममत्व तो कम करना नहीं है और भविष्य में पुण्य करने की ओट लेकर तू उल्टा ममत्व बढ़ाता है, क्या यह तेरा विवेक है?

**प्रश्न** – लक्ष्मी एकत्रित करने के पीछे हमारा भाव तो उसे धर्म–कार्यों में खर्च करने का है, इसलिए तो हमारी शुद्धवृत्ति है?

**उत्तर** – लक्ष्मी आदि कमाने का भाव, पापवृत्ति के बिना आता ही नहीं। शुद्धवृत्ति हो तो लक्ष्मी आदि प्राप्त करने का भाव हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार नदी में बाढ़ आने पर उसमें चारों ओर का मैल भी साथ ही आता है; उसी प्रकार लक्ष्मी का ढेर इकट्ठा करने की वृत्ति में पापभाव भरा ही है। यदि पाप का भाव भी न हो – लोभ कषाय न हो तो आत्महित का उद्यम क्यों नहीं करता? और लक्ष्मी प्राप्त करने का उद्यम क्यों करता है? लक्ष्मी एकत्रित करने का उद्यम करता है – दिन–रात उसी में उपयोग को लगाता है और फिर कहता है कि हमें पापभाव नहीं है – तो वह तेरी दुर्बुद्धि है। इसलिए हे भाई! सन्त तुझे हित का उपदेश देते हैं कि ऐसा अवसर मिला है तो अब अपनी बुद्धि को आत्महित के कार्यों में लगा...

कुछ निवृति लेकर चैतन्यस्वभाव की ओर उन्मुख हो... जिससे तेरा हित होगा। **तेरे जीवन का एक-एक क्षण लाखों का जा रहा है; आत्महित के लिए उसका उपयोग करके उसे सफल कर।** यदि चैतन्यहित की परवाह नहीं की और लक्ष्मी एकत्रित करने में ही जीवन बिता दिया तो तेरा जीवन व्यर्थ चला जाएगा... और फिर संसार में अनन्त काल तक भी ऐसा अवसर नहीं मिलेगा। हित के लिए यह अमूल्य अवसर आया है, इसलिए सावधान होकर अपने हित का उद्यम कर।● ***( - इष्टोपदेश गाथा 14 के प्रवचन से )***

# तीर्थधाम मङ्गलायतन ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

**परम संरक्षक -**

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री अजितजी जैन, बड़ौदरा, गुजरात (21) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (22) श्री वीरेन्द्र कुमार, त्रिशला देवी, नईदिल्ली; (23) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (24) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (25) श्रीमती कोकिलाबेन शाह C/O श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (26) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई। (27) श्री विवेक जैन, इन्दौर। (28) श्रीमती कौशल्यादेवी धर्मपत्नी श्री हरीशचन्द्र जैन, विकासनगर, देहरादून।

**संरक्षक -**

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर (11) श्री महावीर जी पाटिल, सांगली, महाराष्ट्र (12) श्री विजेन्द्र कुमार जैन, जैन मैटल कम्पनी, कुमार मैटल कम्पनी, अलीगढ़।

**परम सहायक -**

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीवकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी,

छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत; (19) श्री शीतल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (20) श्री महीपाल गायक, बांसवाड़ा (राज.); (21) श्री रूचाम्स फ्रेमिंग, टोरन्टो कनाडा।

**सहायक**

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग; (46) सुमतचन्द विनीतकुमार शास्त्री, आगरा; (47) श्री भगवान पारसकुमार जैन, आगरा; (48) स्व. श्री ज्ञानमलजी, भीलवाड़ा (राज०); (49) श्री विमलचन्द पुत्र श्री राजकुमार काला, खरगौन; (50) श्री पुचाम्स परिवार, टोरंटो, कनाडा; (51) श्रीमती सुलोचनादेवी जैन, गोहाटी; (52) श्री प्रभुदयाल जैन, सिलीगुड़ी (आसाम); (53) श्रीमती चंचला जैन, सोलापुर; (54) श्री अम्बुज जैन पुत्र श्री जे. डी. जैन, मलाड़, मुम्बई; (55) श्री अनुभव जैन, जयपुर; (56) श्री कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम ट्रस्ट, इन्दौर; (57) श्री रमेशचन्द सोगानी, कोलकाता; (58) श्री बटुकलाल राघवजी भापाणी, घाटकोपर, मुम्बई।


भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

**तीर्थधाम मङ्गलायतन**

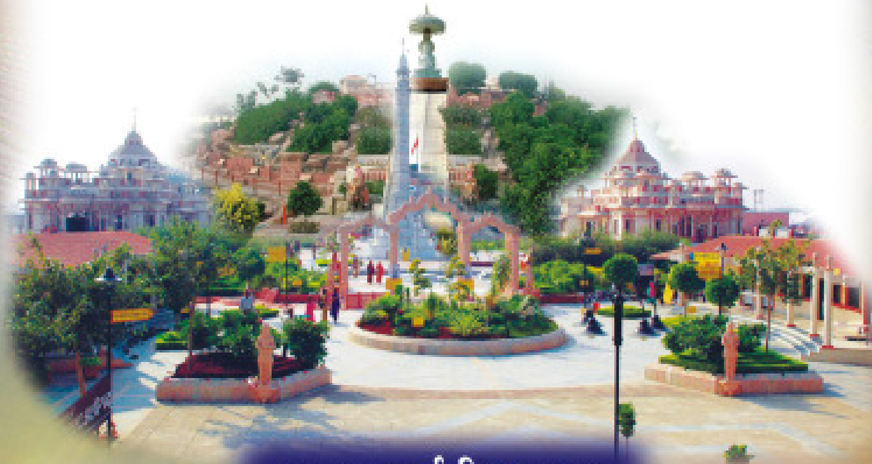

**प्रमुख दर्शनीय स्थल**

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ - कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा ( दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या )
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश

email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com
website : www.mangalayatan.com

**आतम के हित**
**पन्थ लाग!**